मानवजीवनविकास

Human Life Development

चार प्रकार की मानवीय क्षमताओं के विकास का विज्ञान

Science of Development of Four Type of Human Capabilities

लेखक : अरविन्द 'अंकुर'

आरम्भो न्याययुक्तो यः स धर्म इति स्मृतः।
अन्यायस्तु अधर्म इति एतत् शिष्टानुशासनम्॥

जो कार्य न्याययुक्त होता है, वही धर्म कहलाता है। अन्याय ही अधर्म है।
यही शिष्टजनों का उपदेश है। –(महाभारत)

न्यायधर्मसभा

जगजीतपुर, कनखल, हरिद्वार (उत्तरांचल)

फोन : 09319360554
वेबसाइट : www.nyayadharmsabha.org
ईमेल : nds.haridwar@gmail.com

लेखक
श्री अरविन्द 'अंकुर' जी

© प्रतिलिप्याधिकार (कापीराइट)
(Copyright Registration No. : L-63451/2016)
इस पुस्तक के कापीराइट अधिकार लेखक श्री अरविन्द 'अंकुर' जी के पास सुरक्षित हैं। यह पुस्तक या इस पुस्तक का कोई भी अंश अथवा इसका किसी अन्य भाषा में अनुवाद या अन्य किसी रूप में लेखक की अनुमति के विना प्रकाशित, प्रसारित अथवा वितरित नहीं किया जा सकेगा।

सृजन तिथि
01 जनवरी, 2001

प्रकाशन तिथि
01 मार्च, 2016

शीर्षक
मानव जीवन विकास (Human Life Development)

संस्करण
ई-मेल

प्रकाशक
न्यायधर्मसभा, जगजीतपुर, कनखल हरिद्वार (उत्तराखण्ड)

मुद्रक
धर्मसंस्थापकसंघ, जगजीतपुर, कनखल, हरिद्वार (उत्तराखण्ड)

कम्प्यूटरोग्राफी
सन्देश

न्यायप्रार्थना

हे प्रभो! सत्बुद्धि दो समता सदा मन में पले।
न्याय सामन्जस्य का दीपक सदा जग में जले॥

अर्थ में संस्कार में व्यवहार में भी न्याय हो।
आत्महित सबका सधे शुभ न्याय का समुदाय हो॥

न्याय ही आधार हो विधि के उचित संधान का।
राष्ट्रधर्म यही सदा है विश्व के उत्थान का।

व्यक्ति को विद्या मिले परिवार को आजीविका।
ग्राम को सुविधा सुखद हो सृष्टि को संरक्षिका॥

इस धरा पर हे प्रभो! शुभ न्याय का विस्तार हो।
तज विषम व्यवहार मानव में परस्पर प्यार हो॥

रचना : श्री अरविन्द 'अंकुर'

न्याय धर्म सभा
जगजीतपुर, कनखल, हरिद्वार (उत्तराखण्ड)-249408
मो0: 09319360554
website : www.nyayadharmsabha.org
email : info@nyayadharmsabha.org nds.haridwar@gmail.com

भूमिका

मानवजीवन एक विकासयात्रा है। सृष्टि के विकासक्रम की भाँति मानवजीवन भी चार आयामी है। तन, मन, प्राण, आत्मा ही इसके चार आयाम हैं। क्रिया, विचार, भाव, चेतना ही इन चारों आयामों की गतियाँ हैं। बल, वाणी, व्रत, विवेक ही इन चारों आयामों के प्रतिफल हैं। शारीरिक, मानसिक, भावनात्मक, चेतनात्मक विकास के उपायों द्वारा इन चारों आयामों की क्षमताओं का विकास किया जा सकता है।

प्रस्तुत पुस्तिका इन्हीं चारों मानवीय क्षमताओं की विकासयात्रा का वर्णन करती है। इस पुस्तिका को सभी मनुष्यों के लिए प्रथम पठनीय पुस्तिका के रूप में प्रतिष्ठा प्राप्त हो सकती है। विकसित हुए विना मानवीय क्षमतायें विलुप्त रहती हैं। मानवीय क्षमताओं के विकास की संभावना प्रत्येक मनुष्य में विद्यमान रहती है। आवश्यकतानुसार कोई भी मनुष्य अपनी इन क्षमताओं का विकास कर सकता है। विकसित क्षमताओं के अनुसार ही मनुष्यों की वरीयता एवं पात्रता सिद्ध होती है। प्राचीन समय की सत्युगीन व्यवस्था में इन्हीं चारों क्षमताओं के आधार पर वर्णक्रम प्रतिष्ठित होता था, क्योंकि ये चारों क्षमतायें क्रमबद्ध हैं एवं विकसित होकर मानवजीवन को उत्तरोत्तर उन्नत बनाती हैं।

*क्रियाशक्ति, वाक्शक्ति, धारणाशक्ति एवं चिद्शक्ति के रूप में क्रमशः चारों क्षमताओं का विकास ही मानवजीवन की विकासयात्रा का उद्देश्य है, जिससे बल, वाणी, व्रत एवं विवेक की सामर्थ्य का उदय होता है। इन चारों क्षमताओं की आवश्यकता मनुष्य को सामाजिक सभ्यता की दृष्टि से उत्पन्न होती है। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है, वह जंगली पशुओं की भाँति जीवनयापन नहीं कर सकता। मनुष्य की बौद्धिक सामर्थ्य उसको पशुतुल्य जीवन जीने के लिए सहमत नहीं होने देती। सामाजिक सभ्यता के विना वह संतुष्ट नहीं हो पाता। सामाजिक सभ्यता में चार प्रकार के कर्मों का समावेश होता है। इन चारों कर्मों के नाम हैं– कृषि, वाणिज्य, राज्य, नेतृत्व। वास्तव में इन चारों कर्मों का समन्वय ही सामाजिक सभ्यता की संरचना का आधार है। इन चारों कर्मों पर ही सामाजिक संरचना खड़ी होती है। मानवीय सभ्यता इन चारों कर्मों के विना सफल नहीं होती। इन चारों कर्मों को सम्पादित करने के लिए ही चार मानवीय क्षमताओं की आवश्यकता होती है। क्रियाशक्ति से कृषिकर्म, वाक्शक्ति से वाणिज्यकर्म, व्रतशक्ति से राज्यकर्म एवं विवेकशक्ति से नेतृत्वकर्म सम्पादित होता है। इन चारों शक्तियों को ही शारीरिक क्षमता **(PQ)**, मानसिक क्षमता **(IQ)**, भावनात्मक क्षमता **(EQ)** एवं चेतनात्मक क्षमता **(SQ)** के नाम से जाना जाता है।*

क्षमतानुसार पात्रता, पात्रतानुसार कर्म, कर्मानुसार पद, पदानुसार सम्पदा की न्यायसंगत व्यवस्था को ही 'सामाजिकसभ्यता' के नाम से जाना जाता है। यह सामाजिक सभ्यता ही मनुष्य को जंगल से मंगल की ओर ले जाती है। जंगली पशुता के दुःखों का अन्त सभ्य मानवता के द्वारा ही संभव है। यह सामाजिक व्यवस्था ही न्यायोचित वरीयताक्रम पर आधारित व्यवस्था है। जंगली जातिव्यवस्था से छुटकारा पाने के लिए ही इस वरीयताक्रम का आविष्कार हुआ है, किन्तु समय के साथ–साथ धर्मव्यवस्था में दोष के प्रवेश के कारण वरीयताक्रम के स्थान पर जातीयताक्रम पुनः प्रतिष्ठित हो जाने पर मंगलराज के स्थान पर जंगलराज स्थापित हो जाता है। अतः सामाजिक

अथवा राष्ट्रीय व्यवस्था को न्यायशील बनाये रखने के लिए सदैव वरीयताक्रम पर आधारित व्यवस्था को ही ग्रहण करना चाहिए।

व्यवस्था का दोष ही व्यक्तियों में परिलक्षित होने लगता है। व्यवस्था शुद्ध होने पर व्यक्ति शुद्ध होने लगते हैं। सामाजिक व्यवस्था का शुद्धिकरण वर्तमान की अनिवार्य आवश्यकता है। वर्तमान सामाजिक एवं राष्ट्रीय समस्याओं का अन्त केवल व्यवस्था के न्यायसैद्धान्तिक शुद्धिकरण द्वारा ही संभव है। व्यवस्था वह साँचा है, जिसमें जनता ढलती है। जैसा साँचा, वैसी ही मूर्ति प्रकट होती है। साँचे का दोष ही मूर्तियों में झलकता है। अतः मूर्तियों को दण्डित करते रहने के बजाय साँचे के न्यायोचित शुद्धिकरण का प्रयत्न ही वास्तविक समाधान हो सकता है। सत्यात्मक न्याय का अवलम्बन ही शुद्धि का आधार है।

प्रस्तुत पुस्तिका मानवजीवन की चार आयामी समग्र विकासयात्रा का स्पष्ट परिचय प्रदान करती है। समुचित उपायों द्वारा मानवजीवन की यह चार आयामी विकासयात्रा सफल बनायी जा सकती है। मानवीय जीवनविकास की संभावनाओं को साकार करने के लिए प्रस्तुत पुस्तिका एक महत्त्वपूर्ण दस्तावेज है। इसका अध्ययन मानवजीवन की छिपी हुई क्षमताओं से परिचय कराता है। ज्ञान के विना कोई कर्म संभव नहीं होता। अतः मानवजीवन के विकास की संभावनाओं को इस पुस्तक के माध्यम से जानकर समुचित उपायों द्वारा कोई भी मनुष्य सहजतापूर्वक साकार कर सकता है।

इस पुस्तिका में मानवजीवनविकास शाश्वत, वैज्ञानिक एवं दार्शनिक सिद्धान्तों पर आधारित है। अतः इसमें किसी भी प्रकार के सुधार–संशोधन की आवश्यकता नहीं होगी। कृपया पुस्तिका में प्रतिपादित विषयवस्तु को सदैव ज्यों का त्यों रखें। निजी दुर्ग्रन्थियों से प्रेरित होकर दम्भवश किसी प्रकार की छेड़छाड़ न करें। सैद्धान्तिक प्रतिपादनों पर निजी मान्यताओं और अपने कल्पनाजालों का भार लादने का मिथ्या प्रयास न करें। इस पुस्तिका को सदैव यथावत् रहने दें।

आशा है सम्पूर्ण मानवसमाज की क्षमताओं के विकास एवं वरीयताक्रम के निर्धारण में यह पुस्तिका अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होगी और महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायेगी।

- लेखक
(अरविन्द 'अंकुर')
संस्थापक एवं मार्गदर्शक
न्यायधर्मसभा, हरिद्वार

दिनांक : *01 जनवरी, 2001*
स्थान : जगजीतपुर, हरिद्वार

अध्याय : 1

शारीरिक क्षमता विकास

(Physical Capability Development)

कर्मेन्द्रिय, ज्ञानेन्द्रिय, आवेग, विकार इत्यादि के रूप में तनचतुष्टय के विकास की प्रक्रिया

(Development Process of Physical Qrad in the form of Work Organs, Sense Organs, Impulses, Perversions)

शारीरिक क्षमता विकास
(Physical Capability Development)

शरीर का परिचय (Introduction of Body) :- जीव की भौतिक काया को शरीर कहते हैं, जिसमें शीर्षप्रदेश, वक्षप्रदेश, उदरप्रदेश, कटिप्रदेश एवं पदप्रदेश के रूप में पंचक्षेत्र प्रतिष्ठित होते हैं। मुख्यतः पाँच अस्थिदण्डों का संयोग ही यह शरीर है– एक मेरुदण्ड, दो हस्तदण्ड, दो चरणदण्ड। पंचअस्थिदण्डों से युक्त यह मानवकाया बहुत ही अद्‌भुत एवं उपयोगी है। मानवशरीर में तन, मन, प्राण, आत्मा के रूप में जीवन के चारों आयामों के विकास की संभावना विद्यमान है। इन चारों आयामों में ही क्रिया, विचार, भाव, चेतना की क्रमशः चार क्षमतायें सन्निहित होती हैं। इसीलिए यह सृष्टि की सबसे महत्त्वपूर्ण रचना है। लाखों की संख्या में विद्यमान अन्य जीवों में यह चार आयामी विकास की संभावना नहीं पायी जाती। इसीलिए मनुष्य को सृष्टि का सर्वश्रेष्ठ प्राणी होने का गौरव प्राप्त है।

शरीर की रचनासामग्री (Construction Material of Body) :- सृष्टि के समस्त प्राणियों का शरीर पंचतत्त्वों द्वारा निर्मित है। आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी ही पंचतत्त्व हैं। इस शरीर में जो कुछ भी हड्डी–मांसादि ठोसपदार्थ है, वही पृथ्वीतत्त्व है। इस शरीर में जो कुछ भी रस–रक्तादि द्रवपदार्थ है, वही जलतत्त्व है। इस शरीर में जो कुछ भी तापादि है, वही अग्नितत्त्व है। इस शरीर में जो कुछ भी हलन–चलन है, वही वायुतत्त्व है। इस शरीर में जो कुछ भी खाली स्थान है, परिमाप है, आयतन है, वही आकाशतत्त्व है। सामान्यतः शरीर का 'आयतन' ही आकाशतत्त्व है, गैसीयपदार्थ ही वायुतत्त्व है, उष्णपदार्थ ही अग्नितत्त्व है, द्रवपदार्थ ही जलतत्त्व है, ठोसपदार्थ ही पृथ्वीतत्त्व है।

शरीर की सृष्टि का परिचय (Introduction of Creation of Body) :- अस्तित्व चार मौलिक तत्त्वों का अद्‌भुत संयोग है– परमात्मा (Soul), प्राण (Energy), प्रकृति (Nature), पदार्थ (Matter)। इन चारों तत्त्वों से ही क्रमशः चार आयाम प्रतिष्ठित होते हैं– स्थान (Space), समय (Time), कारण (Cause), परिणाम (Result)। जागतिक जीवनधारा एक चार आयामी प्रवाह है। मानवशरीर में केवल आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी इत्यादि पंचपदार्थों की ही उपस्थिति नहीं, बल्कि इन पंचजड़पदार्थों के साथ अन्य तीन तत्त्वों की उपस्थिति भी पायी जाती है– प्रकृति, प्राण, परमात्मा। पदार्थ तो दृश्यमान हैं, किन्तु प्रकृति, प्राण और परमात्मा सूक्ष्म हैं, जिन्हें केवल बुद्धिपूर्वक ही अनुभव किया जा सकता है। परमात्मा ही सभी शरीरों में स्थित 'आत्मा' है। प्राण ही सभी शरीरों में स्थित 'ऊर्जा' है। प्रकृति ही सभी शरीरों में स्थित 'गुण' है। पदार्थ ही सभी शरीरों में स्थित 'पंचतत्त्व' हैं। स्पष्ट है कि मानवजीवन का अस्तित्व चार तत्त्वों के मेल से बना हुआ है, जिनमें क्रमशः परमात्मा, प्राण, प्रकृति एवं पदार्थ का समावेश है। परमात्मा ही सबकी आत्मचेतना है। प्राण ही सबकी जीवनीशक्ति है। प्रकृति ही सबका गुणधर्म है। पदार्थ ही सबका भौतिक अस्तित्व है। वास्तव में परमात्मा, प्राण एवं प्रकृति तीनों सूक्ष्म रूप से पदार्थ में प्रतिष्ठित होकर पंचतत्त्वों का रूप लेकर सम्पूर्ण सृष्टि की रचना के आधार बने हुए हैं। पंचतत्त्व ही सम्पूर्ण रचनासामग्री हैं। परमात्मा से प्राण का उत्सर्जन होता है। प्राण से प्रकृति का उत्सर्जन होता है। प्रकृति से पदार्थ का उत्सर्जन होता है। इन चारों तत्त्वों की स्थिति क्रमबद्ध है। मानवशरीर में परमात्मा ही आत्मारूप से प्रतिष्ठित है, प्राण ही विद्युतरूप से प्रतिष्ठित है, प्रकृति ही त्रिगुणमयी मन के रूप में प्रतिष्ठित है, पदार्थ ही भौतिक तन के रूप में प्रतिष्ठित है। ये परमात्मा, प्राण, प्रकृति एवं पदार्थ ही सभी शरीरधारियों की जीवनविकासयात्रा के चार आयाम हैं। उत्पत्तिक्रम से विपरीत मानवजीवन का

विकासक्रम है। अतः मानवजीवन की विकासयात्रा क्रमशः तन, मन, प्राण, आत्मा के रूप में होती है। तदनुसार ही शारीरिक विकास, मानसिक विकास, भावनात्मक विकास एवं चेतनात्मक विकास का क्रम प्रतिष्ठित होता है।

***तनचतुष्टय का परिचय** (Introduction of Physical Quad) :-* *तन ही शरीर है। चार आयामी होने के कारण इस शरीर को 'तनचतुष्टय' कहा जाता है। तनचतुष्टय की अभिव्यक्ति संसार के चार क्रमबद्ध आयामों द्वारा होती है, जिन्हें क्रमशः स्थान (Space), समय (Time), कारण (Cause) एवं परिणाम (Result) कहते हैं। इन चारों आयामों के प्रभाव से ही सृष्टि की प्रत्येक इकाई चतुष्टयी हो जाती है। अतः मानवशरीर भी उत्पन्न होने के पश्चात् तनचतुष्टय के रूप में प्रतिष्ठित हो जाता है। तदनुसार ही मनुष्य के शारीरिक विकास का चार आयामी क्रम प्रतिष्ठित होता है। शारीरिक विकास में क्रमशः कर्मेन्द्रिय, ज्ञानेन्द्रिय, आवेग एवं विकार विकसित होते हैं। प्रथम आयाम से कर्मेन्द्रियाँ विकसित होती हैं, द्वितीय आयाम से ज्ञानेन्द्रियाँ विकसित होती हैं, तृतीय आयाम से आवेग विकसित होते हैं, चतुर्थ आयाम से विकार विकसित होते हैं।*

***शारीरिक विकास** (Physical Development) :-* *शारीरिक विकास का क्रम गर्भ में ही प्रारम्भ हो जाता है। शरीर के अस्थि, मज्जा, मांस, चर्म, रक्त आदि का निर्माण गर्भ में ही प्रारम्भ हो जाता है। शरीर के प्रायः समस्त अंग गर्भस्थ रहते हुए ही विकसित होने लगते हैं। कर्मेन्द्रियों तथा ज्ञानेन्द्रियों का विकास भी गर्भस्थ रहते हुए ही सम्पन्न होने लगता है। किन्तु मानवजन्म के पश्चात् भी शारीरिक विकास की क्रिया चलती रहती है, अंग पुष्ट होते रहते हैं, इन्द्रियाँ विकसित होती रहती हैं, आवेग प्रदीप्त होते रहते हैं, विकार पंचतत्त्वों के प्रभाव से सक्रिय होते रहते हैं। मानवजन्म के पश्चात् शारीरिक विकास में क्रमशः कर्मेन्द्रियों, ज्ञानेन्द्रियों, प्राकृतिक आवेगों एवं प्राकृतिक विकारों का विकास आवश्यक होता है। पंचतत्त्वों द्वारा निर्मित मानवशरीर में पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच आवेग एवं पाँच विकार विकसित होते हैं। इन्हीं के द्वारा शारीरिक विकास पूर्णता को प्राप्त होता है।*

***शारीरिक विकास के लाभ** (Advantages of Physical Development) :-* *शारीरिक विकास से मनुष्य को क्रियाशक्ति उपलब्ध होती है। कर्मेन्द्रियों, ज्ञानेन्द्रियों, आवेगों, विकारों का विकास एवं स्वास्थ्य मनुष्य को सुपुष्ट, बलवान, समर्थ एवं सक्षम बनाता है। शारीरिक क्षमतावाले कर्मों का सम्पादन शारीरिक विकास के द्वारा ही संभव होता है। मानवशरीर को 'कर्मकाया' के नाम से भी जाना जाता है। जन्म के साथ ही उपलब्ध होनेवाला शरीर यदि पर्याप्त रूप से विकसित करके सुपुष्ट एवं सक्षम बना लिया जाये, तो यह कर्म करने योग्य हो जाता है। अविकसित-कुंठित शरीर असमर्थ होता है। मानवीय कर्मों को सम्पन्न करने की सामर्थ्य शारीरिक विकास द्वारा ही प्राप्त होती है। एक सुविकसित शरीर जिन-जिन कर्मों को करने का अभ्यास कर लेता है, उन-उन कर्मों को सम्पादित करने में समर्थ हो जाता है।*

***शारीरिक विकास के उपाय** (Methods of Physical Development) :-* *शारीरिक विकास का प्रमुख उपाय है- संतुलित आहार-विहार। मनुष्यों का खाना-पीना, उठना-बैठना, सोना-जागना, खेलना-कूदना, रहना-जीना, रुकना-चलना, व्यायाम-विश्राम, भोग-विलास, शौच-स्नान, चिकित्सा-सुरक्षा इत्यादि अनेक प्रकार के आचार-व्यवहार यदि संतुलित हों, तो शारीरिक विकास सहज ही उपलब्ध हो*

जाता है। आहार–विहार को संतुलित बनाए विना शारीरिक विकास संभव नहीं होता। संतुलित आहार–विहार को शारीरिक विकास की अनिवार्य आवश्यकता के रूप में देखा जा सकता है। संतुलित आहार–विहार को निम्नलिखित रूप में समझा जा सकता है :–

***१) संतुलित आहार** (Balanced Diet) :- शारीरिक स्वास्थ्य के नियमों के अनुकूल खान–पान को ही संतुलित आहार कहते हैं। ऐसी खाद्य एवं पेय वस्तुओं का सेवन जो शरीर को हृष्ट–पुष्ट रखने में समर्थ हों, उन्हें ही संतुलित आहार की श्रेणी में रखा जा सकता है। अपोषण एवं कुपोषण से बचकर सुपोषण प्रदान करनेवाले आहार–विहार का अवलम्बन ही संतुलित आहार के रूप में परिभाषित किया जा सकता है। शरीर को कुंठित करने अथवा हानि पहुँचाने वाले आहार को त्यागकर शरीर को विकसित एवं पुष्ट बनानेवाले आहार को ग्रहण करना ही संतुलित आहार के रूप में प्रशस्त है। शारीरिक स्वास्थ्य के विशेषज्ञों द्वारा प्रशस्त खाद्य एवं पेय वस्तुओं का यथोचित मात्रानुसार यथायोग्य समय पर सेवन करना ही शारीरिक विकास के लिए उपयोगी सिद्ध हो सकता है।*

***२) संतुलित विहार** (Balanced Living) :- सामान्य जीवन की विविध गतिविधियों को ही विहार कहते हैं। उठना–बैठना, सोना–जागना, खेलना–कूदना, रहना–जीना, रुकना–चलना, व्यायाम–विश्राम, भोग–विलास, शौच–स्नान, चिकित्सा–उपचार आदि अनेक प्रकार की मानवी गतिविधियों का सीधा प्रभाव शरीर पर पड़ता है। जीवनविहार संतुलित हो, तो विकास होता है एवं असंतुलित हो तो विनाश होता है। अतः शारीरिक विकास के लिए जीवनविहार संतुलित होना आवश्यक है। शारीरिक स्वास्थ्य के विशेषज्ञों द्वारा प्रशस्त जीवनविहार के नियमों का पालन करना शारीरिक विकास एवं स्वास्थ्य के लिए अनिवार्य होता है। जीवनविहार के प्रशस्त नियमों का उल्लंघन शरीर को अविकसित एवं कुंठित बनाता है तथा विनाश की ओर भी धकेलता है।*

***शारीरिक विकास के चार घटक** (Four Components of Physical Development)*

***:-** शारीरिक क्षमता का विकास निम्नलिखित चार घटकों के विकास पर निर्भर करता है। इन चारों घटकों के नाम हैं– कर्मेन्द्रिय, ज्ञानेन्द्रिय, आवेग, विकार। इन कर्मेन्द्रियों, ज्ञानेन्द्रियों, आवेगों एवं विकारों की विकसित दशा पर ही शारीरिक क्षमता अवलम्बित होती है। इन चारों घटकों के विकास का परिचय निम्नलिखित है :–*

***क) कर्मेन्द्रियों का विकास** (Development of Work Organs) :- मानवीय अस्तित्व पंचपदार्थों के संयोग से बना हुआ है– आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी। इन पाँचों पदार्थों के प्रभाव से मानवीय शरीर में पाँच कर्मेन्द्रियों का विकास होता है। आकाश से मुख, वायु से कर, अग्नि से पाव, जल से उपस्थ, पृथ्वी से गुदा उत्पन्न होती है। ये पाँचों कर्मेन्द्रियाँ 'उत्सर्जक' होती हैं। इनके द्वारा क्रमशः ध्वनि, क्रिया, गति, मूत्र, मल का उत्सर्जन ही इन पाँचों कर्मेन्द्रियों का मुख्य उद्देश्य होता है। अतः इन पाँचों कर्मेन्द्रियों को 'त्यागेन्द्रिय' के नाम से भी जाना जाता है। 'कर्मेन्द्रिय' को ही 'यत्नेन्द्रिय अथवा 'यज्ञेन्द्रिय' भी कहते हैं। इन पाँचों कर्मेन्द्रियों का संक्षिप्त परिचय निम्नलिखित है :–*

***१) मुख का विकास** (Development of Mouth) :- शरीर की रचना में प्रयुक्त प्रथम पदार्थ ही 'आकाश' है। आकाशतत्त्व के प्रभाव से शरीर में 'मुख' नामक कर्मेन्द्रिय का विकास होता है। मुख को 'वागेन्द्रिय' के नाम से जाना जाता है। वाणी का उच्चारण मुख के*

द्वारा ही होता है। सम्पूर्ण शीर्षप्रदेश भी मुख के नाम से जाना जाता है। अतः मुख से सम्बद्ध सम्पूर्ण अंगों को शिर के रूप में परिभाषित किया जाता है। शिर ही शरीर का प्रमुख अंग है। शारीरिक विकास एवं स्वास्थ्य की परीक्षा के लिए मुख को आधार के रूप में स्वीकार किया जाता है। मुख ही प्रथम कर्मेन्द्रिय है, जो बोलने के लिए प्रयुक्त होने के साथ ही भोजनादि ग्रहण के लिए भी प्रयुक्त होती है।

२) कर का विकास (Development of Hand) :- *शरीर की रचना में प्रयुक्त द्वितीय पदार्थ ही 'वायु' है। वायुतत्त्व के प्रभाव से शरीर में 'कर' नामक कर्मेन्द्रिय का विकास होता है। कर को ही हस्त या हाथ कहते हैं। शरीर में दो कर विकसित होते हैं– वामहस्त एवं दक्षहस्त। इन दोनों करों से ही सभी प्रकार के कर्मों का सम्पादन होता है। 'कर' नामक कर्मेन्द्रिय स्पष्ट रूप से मानवीय शरीर में ही विकसित होती है। पशुओं–पक्षियों में इन दोनों करों का अभाव होता है। पशुओं–पक्षियों के शरीर में दोनों 'करण' भी 'चरण' के रूप में प्रतिष्ठित रहते हैं, जो उड़ने अथवा चलने में ही प्रयुक्त होते हैं। अतः मानवकाया करों की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। सम्पूर्ण वक्षप्रदेश इन्हीं करों से सम्बद्ध अंग होते हैं। क्रियाशील व कर्मठ बने रहने के लिए सम्पूर्ण वक्षप्रदेश को सुविकसित एवं स्वस्थ बनाए रखने की आवश्यकता होती है।*

३) पाव का विकास (Development of Foot) :- *शरीर की रचना में प्रयुक्त तृतीय पदार्थ ही 'अग्नि' है। अग्नितत्त्व के प्रभाव से शरीर में 'पाव' नामक कर्मेन्द्रिय का विकास होता है। अग्नि को 'पावक' कहते हैं। पवित्र करने वाला ही 'पावक' है। 'पावक' शब्द का अभिप्राय चलाने वाले से भी है। जो किसी को चला सकता है, वही 'पावक' है। दोनों पाव ही शरीर का संचालन करते हैं। मानवीय शरीर में अग्नि के प्रभाव से दो पाव विकसित होते हैं। चरणों अथवा पैरों को ही 'पाव' कहते हैं। मानवशरीर इन्हीं दोनों पावों के माध्यम से चलता है, विचरण करता है। एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाने के लिए इन्हीं पावों अथवा चरणों की आवश्यकता होती है। शरीर का संतुलन बनाए रखने के लिए दोनों पावों की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। जिस मनुष्य के शरीर में दोनों पैर संतुलित रूप से विकसित नहीं हैं, उसकी चाल एवं गति संतुलित नहीं रहती। अतः दोनों पावों का विकास एवं स्वास्थ्य मानवशरीर के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। दोनों पैर हृष्ट–पुष्ट एवं स्वस्थ रहने पर ही मानवजीवन सम्यक् रूप से गतिशील बना रहता है। कटिप्रदेश (कमर) से नीचे का भाग ही 'पावप्रदेश' कहलाता है।*

४) उपस्थ का विकास (Development of Urinal Organ) :- *शरीर की रचना में प्रयुक्त चतुर्थ पदार्थ ही 'जल' है। जलतत्त्व के प्रभाव से शरीर में 'उपस्थ' नामक कर्मेन्द्रिय का विकास होता है। रस का उत्सर्जन करने के लिए उपस्थ की आवश्यकता होती है। मूत्र–रज–वीर्यादि का उत्सर्जन उपस्थ द्वारा ही किया जाता है। शरीर को स्वच्छ बनाए रखने के लिए मूत्रादि का त्याग आवश्यक होता है। उदरप्रदेश में स्थित गुर्दा (किडनी) आदि का सम्बन्ध उपस्थेन्द्रिय से होता है। उपस्थेन्द्रिय यदि विकसित एवं स्वस्थ न हो, तो अनेक प्रकार की शारीरिक व्याधियाँ उत्पन्न हो सकती हैं, तथा जीवन भी संकटग्रस्त हो सकता है। सुविकसित एवं स्वस्थ कर्मेन्द्रिय प्रत्येक शरीर की आवश्यकता है। मैथुन–प्रजनन आदि के लिए भी उपस्थेन्द्रिय का प्रयोग होता है।*

५) गुदा का विकास (Development of Pooping Organ) :- *शरीर की रचना में प्रयुक्त पंचम पदार्थ ही 'पृथ्वी' है। पृथ्वीतत्त्व के प्रभाव से शरीर में 'गुदा' नामक कर्मेन्द्रिय का*

विकास होता है। मल का उत्सर्जन करने के लिए गुदा नामक शरीरांग की आवश्यकता होती है। मलादि का उत्सर्जन गुदा द्वारा ही संभव होता है। शरीर को स्वच्छ बनाए रखने के लिए मलत्याग आवश्यक होता है। मलाशयादि आंत्रों का सम्बन्ध इसी गुदेन्द्रिय से होता है। मलेन्द्रिय यदि विकसित एवं स्वस्थ न हो, तो भी अनेक प्रकार की शारीरिक व्याधियाँ उत्पन्न हो सकती हैं, तथा जीवन भी संकटग्रस्त हो सकता है। सुविकसित एवं स्वस्थ कर्मेन्द्रिय प्रत्येक शरीर की आवश्यकता है। कब्ज, बबासीर आदि व्याधियाँ गुदेन्द्रिय के लिए हानिकारक होती हैं। पाचनशक्ति की प्रबलता एवं स्वच्छता के आचरण द्वारा इस कर्मेन्द्रिय के स्वास्थ्य की रक्षा हो सकती है।

❀❀❀

ख) ज्ञानेन्द्रियों का विकास (Development of Sense Organs) :- *आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी इत्यादि पंचपदार्थों के प्रभाव से मानवीय शरीर में पाँच ज्ञानेन्द्रियों का भी विकास होता है। आकाश से श्रोत, वायु से त्वचा, अग्नि से नेत्र, जल से जिह्वा, पृथ्वी से नासा उत्पन्न होती है। ये पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ 'संग्राहक' होती हैं। इनके द्वारा क्रमशः शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध इत्यादि पंचविषयों का संग्रहण ही इन पाँचों ज्ञानेन्द्रियों का उद्देश्य होता है। अतः इन पाँचों ज्ञानेन्द्रियों को 'ग्रहणेन्द्रिय' के नाम से भी जाना जाता है। विविध विषयों का ज्ञान कराने के कारण ही इन्हें 'ज्ञानेन्द्रिय' कहते हैं। इन पाँचों ज्ञानेन्द्रियों का संक्षिप्त परिचय निम्नलिखित है :–*

१) श्रोत का विकास (Development of Ear) :- *'श्रोत' नामक ज्ञानेन्द्रिय का उदय आकाशतत्त्व के प्रभाव से होता है। 'शब्द' या 'ध्वनि' को ग्रहण करने के लिए श्रोत की आवश्यकता होती है। श्रवणेन्द्रिय को ही 'श्रोत' कहते हैं, जिसे 'कान' अथवा 'कर्ण' भी कहा जाता है। अनेक प्रकार के शब्दों को श्रवण करने की सामर्थ्य धारण करने वाली इन्द्रिय को ही 'श्रोतेन्द्रिय' कहते हैं।*

२) त्वचा का विकास (Development of Skin) :- *'त्वचा' नामक ज्ञानेन्द्रिय का उदय वायुतत्त्व के प्रभाव से होता है। 'स्पर्श' को ग्रहण करने के लिए त्वचा की आवश्यकता होती है। स्पर्शेन्द्रिय को ही 'त्वचा' कहते हैं। शीतल–उष्ण, कोमल–कठोर, स्निग्ध–तीक्ष्ण, शुभ–अशुभ आदि अनेक प्रकार के प्रिय–अप्रिय स्पर्शों को ग्रहण करने की सामर्थ्य धारण करनेवाली इन्द्रिय को ही 'स्पर्शेन्द्रिय' कहते हैं।*

३) नेत्र का विकास (Development of Eye) :- *'नेत्र' नामक ज्ञानेन्द्रिय का उदय अग्नितत्त्व के प्रभाव से होता है। 'रूप' या 'आकार' को ग्रहण करने के लिए नेत्र की आवश्यकता होती है। रूपेन्द्रिय को ही 'नेत्र' कहते हैं। गोल, त्रिकोण, चत्कोण, लम्बे, चौड़े, मोटे, पतले, ऊँचे, गहरे, छोटे, बड़े आदि सुन्दर–असुन्दर अनेक प्रकार के रूपों–आकृतियों को ग्रहण करने की सामर्थ्य धारण करने वाली इन्द्रिय को ही 'नेत्रेन्द्रिय' कहते हैं। दर्शनशक्ति के कारण ही नेत्र को 'दृग' भी कहते हैं।*

४) जिह्वा का विकास (Development of Tongue) :- *'जिह्वा' नामक ज्ञानेन्द्रिय का उदय जलतत्त्व के प्रभाव से होता है। 'रस' या 'स्वाद' को ग्रहण करने के लिए जिह्वा की आवश्यकता होती है। स्वादेन्द्रिय को ही 'जिह्वा' कहते हैं। सादा, मीठा, अम्लीय, तिक्त, क्षारीय, कषाय आदि अनेक प्रकार के रसों या स्वादों को ग्रहण करने की सामर्थ्य धारण करने वाली इन्द्रिय को ही 'स्वादेन्द्रिय' अथवा 'रसेन्द्रिय' कहते हैं। इसीलिए जिह्वा को 'रसना' के नाम से भी जाना जाता है।*

५) नासा का विकास *(Development of Nose) :-* *'नासा' नामक ज्ञानेन्द्रिय का उदय पृथ्वीतत्त्व के प्रभाव से होता है। 'गन्ध' ग्रहण करने के लिए नासा की आवश्यकता होती है। घ्राणेन्द्रिय को ही 'नासा' कहते हैं। अनेक प्रकार की शुभ–अशुभ, सुखद–दुःखद, प्रिय–अप्रिय गन्धों को ग्रहण करने की सामर्थ्य धारण करने वाली इन्द्रिय को ही 'घ्राणेन्द्रिय' कहते हैं। सुगन्ध अथवा दुर्गन्ध को सूँघने की सामर्थ्य ही घ्राणशक्ति की मुख्य विशेषता है।*

❀❀❀

ग) आवेगों का विकास *(Development of Impulses) :-* *आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी इत्यादि पंचपदार्थों के प्रभाव से मानवीय शरीर में क्रमशः पाँच आवेगों का भी विकास होता है। ये पाँचों आवेग प्राकृतिक हैं, जो पंचपदार्थों के प्रभाव से उत्पन्न होते हैं। आकाश से जीविषा, वायु से निद्रा, अग्नि से क्रीड़ा, जल से पिपासा, पृथ्वी से भुक्षा उत्पन्न होती है। ये पाँचों आवेग 'संपूरक' होते हैं। इनके द्वारा ही पंचतत्त्वों की संपूर्ति होती है। अतः इन पाँचों प्राकृतिक आवेगों को 'संपूरक' के नाम से जाना जाता है। इन पाँचों आवेगों का संक्षिप्त परिचय निम्नलिखित है :–*

१) जीविषा का विकास *(Development of Livingness):-* *शरीर के निर्माण में प्रथम पदार्थ के रूप में आकाश का उपयोग होता है। आकाश मौलिक रूप से सर्वव्यापी अस्तित्व है, अखण्ड है। किन्तु जैविक शरीर में प्रतिष्ठित आकाशतत्त्व आत्मरूप से स्वयं को देहाभिमान से ग्रस्त कर लेता है। देह की मृत्यु को अपनी मृत्यु मानने लगता है, अतः मृत्युभय से ग्रस्त हो जाता है और जीने की इच्छा के आवेग को धारण कर लेता है। जीने की इच्छा ही 'जीविषा' है, जो भय के विपरीत है। सर्वव्यावी आकाश के रूप में आत्मा का बोध होते ही यह भय समाप्त होने लगता है। अतः आकाशतत्त्व की पूर्ति के लिए ही 'जीविषा' नामक प्राकृतिक आवेग उत्पन्न होता है। सत्त्व ही जीविषा का संप्रेरक है। जीने की इच्छा को ही 'जीविषा' कहते हैं। सचेतन होने की इच्छा ही जीविषा है। शरीर की चैतन्यता ही जीविषा के रूप में व्यक्त होती है। 'जीविषा' नामक आवेग का विकास न होने पर मानवशरीर में सतोगुण विकसित नहीं हो पाता, जिससे मृत्यु, विनाश जैसी समस्यायें उसे घेर लेती हैं। अचेतना या जड़ता मानवजीवन के लिए अभिशाप बन जाती है। जीविषा एक अद्‌भुत प्राकृतिक आवेग है, जो मनुष्य को सचेतन बनाता है, सजग बनाता है, उसे विनाश से बचाकर विकास की ओर ले जाता है, 'मृत्योर्माऽतंगमय' इसी बात का संप्रेरक वाक्य है।*

२) निद्रा का विकास *(Development of Slumber) :-* *शरीर के निर्माण में द्वितीय पदार्थ के रूप में वायु का उपयोग होता है। वायु मौलिक रूप से राजस है। निद्रा ही वायु का संपूरक है। निद्रा के द्वारा मनुष्य सुषुप्तिकेन्द्र में प्रतिष्ठित हो जाता है। निद्राकाल विश्राम के लिए प्रयुक्त होता है। बहिर्जगत् में इन्द्रियाँ एवं अन्तर्जगत् में मन की क्रियायें हृदय में प्राणस्थ हो जाती हैं। सुषुप्तिकाल में प्राणवायु सम हो जाती है, जिससे श्वसनतन्त्र यज्ञपरायण हो जाता है। अर्थात् दीर्घ, लम्बी और गहरी श्वाँस चलने लगती है, जिससे श्रम अथवा थकान मिटती है एवं शरीर पुनः ऊर्जावान् हो जाता है। सभी देहधारी जीव निद्रा के आवेग द्वारा ही जीवनीशक्ति प्राप्त करते हैं। पुनः तरोताजा होकर जाग्रतकेन्द्र में प्रतिष्ठित होते एवं सामान्य जीवन की क्रियाओं का सम्पादन करने में समर्थ हो जाते हैं।*

३) क्रीड़ा का विकास *(Development of Playingness)* ***:-*** *शरीर के निर्माण में तृतीय पदार्थ के रूप में अग्नि का उपयोग होता है। अग्नि मौलिक रूप से सात्त्विक है। इसीलिए इसे 'ज्योति' कहा गया है। अग्नितत्त्व की पूर्ति के लिए ही 'क्रीड़ा' नामक प्राकृतिक आवेग उत्पन्न होता है। क्रीड़ा ही अग्नि का संपूरक है। परिश्रम, व्यायाम, खेलकूद, रति, मैथुन आदि को ही 'क्रीड़ा' कहते हैं। शरीर की सक्रियता ही क्रीड़ा के रूप में व्यक्त होती है। क्रीड़ा नामक आवेग का विकास न होने पर मानवशरीर में शिथिलता, जड़ता, निष्क्रियता, निस्तेजता उत्पन्न होती है। अग्नितत्त्व की न्यूनता व निष्क्रियता से शरीर रुग्ण जैसा प्रतीत होता है। क्रीड़ा द्वारा शरीर में उष्णता एवं तेजस्विता की वृद्धि होती है। अग्नितत्त्व की वृद्धि से शरीर पुनः स्वस्थ हो जाता है। ओजस्, तेजस्, वर्चस् की प्राप्ति क्रीड़ा के द्वारा ही संभव होती है।*

४) पिपासा का विकास *(Development of Thirst)* ***:-*** *शरीर के निर्माण में चतुर्थ पदार्थ के रूप में जल का उपयोग होता है। जल मौलिक रूप से राजस है, तरल है, द्रव है। पेयपदार्थ को ही जल कहते हैं। रजोगुण सरस होता है, अतः जल में रसमयता पायी जाती है। रसपान की इच्छा को ही 'पिपासा' या 'प्यास' कहते हैं। तृष्णा भी पिपासा है। तृप्ति के लिए जलपान किया जाता है। जल पीते ही पिपासा तृप्त हो जाती है। शरीर में जलतत्त्व का अभाव होने पर ही तृष्णा अथवा पिपासा उत्पन्न होती है। शरीर में उष्णता बढ़ने पर उत्पन्न हुई पिपासा जलपान द्वारा तृप्त होकर जलतत्त्व की पूर्ति कर देती है तथा शरीर में स्थित पंचतत्त्व संतुलित हो जाते हैं। अन्य 4 तत्त्वों के साथ जलतत्त्व की संतुलित मात्रा बनाए रखने के लिए 'प्यास' नामक प्राकृतिक आवेग महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है। तृष्णाशक्ति को ही 'पिप्सा' या 'पिपासा' के नाम से जाना जाता है।*

५) भुक्षा का विकास *(Development of Hunger)* ***:-*** *शरीर के निर्माण में पंचम पदार्थ के रूप में पृथ्वी का उपयोग होता है। पृथ्वी मौलिक रूप से तामस है, जड़ है, ठोस है। अन्न ही पृथ्वीतत्त्व है। बहुत से अणुओं का संयोग ही पदार्थ है। शरीर में जो कुछ भी ठोस है, वह सब पृथ्वीतत्त्व है। पृथ्वीतत्त्व का अभाव होने पर क्षुधा या भुक्षा उत्पन्न होती है। भुक्षा को ही भूख कहा जाता है। बार-बार लगने वाली भूख को 'बुभुक्षा' कहते हैं। शरीर में अन्नतत्त्व का संतुलन बनाए रखने के लिए 'भुक्षा' नामक प्राकृतिक आवेग पृथ्वीतत्त्व की प्रेरणा से ही उत्पन्न होता है। अन्नकोष ही शरीर में ठोस वस्तुओं की रचना करता है। अन्न के परमाणु ही घनीभूत होकर हड्डी, मांस, मज्जा, चर्म आदि का निर्माण करते हैं। भौतिक शरीर को बनाए रखने के लिए बुभुक्षा महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती है।*

❁❁❁

घ) विकारों का विकास *(Development of Perversions)* ***:-*** *आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी इत्यादि पंचपदार्थों के प्रभाव से मानवीय शरीर में क्रमशः पाँच विकारों का भी विकास होता है- मान, काम, क्रोध, लोभ, मोह। ये पंचविकार प्राकृतिक हैं, जो पंचपदार्थों के प्रभाव से उत्पन्न होते हैं। आकाश से मान, वायु से काम, अग्नि से क्रोध, जल से लोभ, पृथ्वी से मोह विकार उत्पन्न होता है। ये पाँचों विकार 'संप्रेरक' होते हैं। इनके द्वारा पंचतत्त्व अपना प्रभाव दिखाते हैं तथा अपने-अपने प्रभाव से किसी कार्यविशेष के लिए प्रेरित करते हैं। अतः इन पाँचों प्राकृतिक विकारों को 'संप्रेरक' के नाम से जाना जाता है। 'विशेष कार्य' को ही 'विकार' कहते हैं। पंचतत्त्वों द्वारा प्रेरित विशेष कार्य ही विकार हैं। समस्त कर्म इन पाँचों विकारों द्वारा ही संप्रेरित होते हैं। इन विकारों के दो रूप हो सकते हैं- सात्त्विक एवं दूषित। इनके सात्त्विक रूप में क्रमशः सुमान,*

सुकाम, सुक्रोध, सुलोभ, सुमोह प्रतिष्ठित होते हैं तथा इनके दूषित रूप में दुर्मान, दुष्काम, दुष्क्रोध, दुर्लोभ, दुर्मोह प्रतिष्ठित होते हैं। इन दुर्विकारों को ही कुमान, कुकाम, कुक्रोध, कुलोभ, कुमोह भी कहा जाता है। विकारों को कर्मप्रेरक भी माना जाता है। इन पाँचों विकारों का संक्षिप्त परिचय निम्नलिखित है :–

***१) मान का विकास** (Development of Pride) :- आकाशतत्त्व से 'मान' विकार उत्पन्न होता है। आयतन को ही 'मान' कहते हैं। किसी का शरीर जितना स्थान घेरता है, उसे आयतन कहा जाता है। यह आयतन ही स्वाभिमान का कारण है। इसी से प्रत्येक जीवधारी को अपने अस्तित्व का बोध होता है। स्वयं के अस्तित्व का बोध ही स्वाभिमान है। 'मूल्य' को ही 'मान' कहते हैं। स्वयं की मूल्यवत्ता ही स्वाभिमान है। आकाशतत्त्व के प्रभाव से उत्पन्न होनेवाला मान प्रथम प्राकृतिक विकार है, जो मानवजीवन को अनेक प्रकार के कर्मों के संपादन हेतु प्रेरित करता है। अतः 'मान' ही कर्मों का प्रथम 'संप्रेरक' है। आकाशतत्त्व द्वारा संप्रेरित विशेष कार्य ही 'मान' नामक विकार है। मान विकार दो प्रकार का हो सकता है– सात्त्विक और दूषित। सात्त्विक मान को सुमान एवं दूषित मान को कुमान या दुर्मान कहते हैं। सुमान व शुभमान व सम्मान सात्त्विक होने के कारण सदैव वरेण्य है, किन्तु कुमान व दुर्मान दूषित होने के कारण सदैव परित्याज्य है, क्योंकि कुत्सित व दूषित वस्तुयें सदैव हानिकारी एवं विनाशकारी सिद्ध होती हैं।*

***२) काम का विकास** (Development of Desire) :- वायुतत्त्व से 'काम' विकार उत्पन्न होता है। सुखभोग की इच्छा को ही 'काम' कहते हैं। किसी के शरीर में जो प्राणवायु अथवा ऊर्जा होती है, उसे ही काम का प्रेरक कहा जाता है। वायु ही ऊर्जा का स्रोत है। ऊर्जावान् व्यक्ति ही कामुक या इच्छुक होते हैं। किन्तु जिनके शरीर में वायुतत्त्व क्षीण होता है, उनमें कामविकार भी क्षीण हो जाता है। सम्पूर्ण सृष्टि की रचना का आधार 'काम' है। सम्बन्ध, सुख, सौन्दर्य का सृजन कामविकार की प्रेरणा से ही होता है। वायुतत्त्व के प्रभाव से उत्पन्न होनेवाला 'काम' द्वितीय प्राकृतिक विकार है, जो मानवजीवन को अनेक प्रकार के कर्मों के संपादन हेतु प्रेरित करता है। अतः 'काम' ही कर्मों का द्वितीय 'संप्रेरक' है। वायुतत्त्व द्वारा संप्रेरित विशेष कार्य ही 'काम' नामक विकार है। कामविकार दो प्रकार का हो सकता है– सात्त्विक और दूषित। सात्त्विक काम को सुकाम एवं दूषित काम को कुकाम या दुष्काम कहते हैं। सुकाम व शुभकाम सात्त्विक होने के कारण सदैव वरेण्य है, किन्तु कुकाम व दुष्काम दूषित होने के कारण सदैव परित्याज्य है, क्योंकि कुत्सित व दूषित वस्तुयें सदैव हानिकारी एवं विनाशकारी सिद्ध होती हैं।*

***३) क्रोध का विकास** (Development of Anger) :- अग्नितत्त्व से 'क्रोध' विकार उत्पन्न होता है। उत्तेजना या उत्ताप को ही 'क्रोध' कहते हैं। किसी के शरीर में जो अग्नि के प्रभाव से उत्ताप या उत्तेजना प्रकट होती है, वही क्रोध है। अग्नि ही ताप का स्रोत है। उत्तेजित या उत्तप्त व्यक्ति ही क्रोधी होते हैं। किन्तु जिनके शरीर में अग्नितत्त्व क्षीण होता है, उनमें क्रोधविकार भी क्षीण होता है। ओजस्, तेजस्, वर्चस् की उपलब्धि क्रोधविकार की प्रेरणा से ही होती है। अग्नितत्त्व के प्रभाव से उत्पन्न होनेवाला 'क्रोध' तृतीय प्राकृतिक विकार है, जो मानवजीवन को अनेक प्रकार के कर्मों के संपादन हेतु प्रेरित करता है। अतः 'क्रोध' ही कर्मों का तृतीय 'संप्रेरक' है। अग्नितत्त्व द्वारा संप्रेरित विशेष कार्य ही 'क्रोध' नामक विकार है। क्रोधविकार दो प्रकार का हो सकता है– सात्त्विक और दूषित। सात्त्विक क्रोध को सुक्रोध एवं दूषित क्रोध को कुक्रोध या दुष्क्रोध कहते हैं। सुक्रोध व शुभक्रोध सात्त्विक होने के कारण सदैव वरेण्य है, किन्तु कुक्रोध व दुष्क्रोध*

दूषित होने के कारण सदैव परित्याज्य है, क्योंकि कुत्सित व दूषित वस्तुयें सदैव हानिकारी एवं विनाशकारी सिद्ध होती हैं।

४) लोभ का विकास (Development of Greed) :- *जलतत्त्व से 'लोभ' विकार उत्पन्न होता है। लिप्सा अथवा लालसा को ही 'लोभ' कहते हैं। किसी के शरीर में स्थित जलतत्त्व की प्रेरणा से ही लिप्सा अथवा लोभ प्रकट होता है। जल ही लिप्सा का स्रोत है। सरस व्यक्ति ही लिप्सालु होते हैं, लोभी होते हैं। किन्तु जिनके शरीर में जलतत्त्व क्षीण होता है, उनमें लोभविकार भी क्षीण होता है। प्रतिफल की इच्छा ही लोभ है। संसार के सभी उद्यम लोभ के कारण ही प्रतिष्ठित होते हैं। लोभ के अभाव में सम्पूर्ण मानवजीवन निःरस हो जाता है। जलतत्त्व के प्रभाव से उत्पन्न होनेवाला लोभ चतुर्थ प्राकृतिक विकार है, जो मानवजीवन को अनेक प्रकार के कर्मों के संपादन हेतु प्रेरित करता है। अतः 'लोभ' ही कर्मों का चतुर्थ 'संप्रेरक' है। जलतत्त्व द्वारा संप्रेरित विशेष कार्य ही 'लोभ' नामक विकार है। लोभविकार दो प्रकार का हो सकता है– सात्त्विक और दूषित। सात्त्विक लोभ को सुलोभ एवं दूषित लोभ को कुलोभ या दुर्लोभ कहते हैं। सुलोभ व शुभलोभ सात्त्विक होने के कारण सदैव वरेण्य है, किन्तु कुलोभ व दुर्लोभ दूषित होने के कारण सदैव परित्याज्य है, क्योंकि कुत्सित व दूषित वस्तुयें सदैव हानिकारी एवं विनाशकारी सिद्ध होती हैं।*

५) मोह का विकास (Development of Affection) :- *पृथ्वीतत्त्व से 'मोह' विकार उत्पन्न होता है। पृथ्वी ही 'महती' है। महती को ही अपभ्रष्ट रूप से 'माटी' या 'मिट्टी' कहा जाता है। पृथ्वीतत्त्व में स्थित गुरुत्वाकर्षण इस मोहविकार से ही उत्पन्न होता है। आसक्ति को ही 'मोह' कहते हैं। मोहविकार से ही आकर्षणशक्ति उत्पन्न होती है। किसी के शरीर में जो पृथ्वीतत्त्व है, वही मोह को जन्म देता है। पार्थिव प्रेरणा से ही व्यक्ति मोहित होते हैं। किन्तु जिनके शरीर में पृथ्वीतत्त्व क्षीण होता है, उनमें मोहविकार भी क्षीण होता है। समस्त सम्बन्धों का आधार मोह है। संयोग, सम्बन्ध, सहजीवन इस मोहविकार की प्रेरणा से ही होता है। पृथ्वीतत्त्व के प्रभाव से उत्पन्न होनेवाला 'मोह' पंचम प्राकृतिक विकार है, जो मानवजीवन को अनेक प्रकार के कर्मों के संपादन हेतु प्रेरित करता है। अतः 'मोह' ही कर्मों का पंचम 'संप्रेरक' है। पृथ्वीतत्त्व द्वारा संप्रेरित विशेष कार्य ही 'मोह' नामक विकार है। मोहविकार दो प्रकार का हो सकता है– सात्त्विक और दूषित। सात्त्विक मोह को सुमोह एवं दूषित मोह को 'कुमोह' या 'दुर्मोह' कहते हैं। सुमोह व शुभमोह सात्त्विक होने के कारण सदैव वरेण्य है, किन्तु कुलोभ व दुर्लोभ दूषित होने के कारण सदैव परित्याज्य है, क्योंकि कुत्सित व दूषित वस्तुयें सदैव हानिकारी एवं विनाशकारी सिद्ध होती हैं।*

❀❀❀

अध्याय : २

मानसिक क्षमता विकास

(Mental Capability Development)

मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार इत्यादि के रूप में मानवीय अन्तश्चतुष्टय के विकास की प्रक्रिया

(Development Process of Intellectual Quad in the form of Mind, Intelligence, Memory, Ego)

मानसिक क्षमता विकास
(Mental Capability Development)

मनश्चतुष्टय का परिचय (Introduction of Mental Quad) :- मनुष्यों के जीवनविकास का द्वितीय चरण ही मनश्चतुष्टय का विकास कहलाता है। मनश्चतुष्टय को ही अन्तःकरण चतुष्टय (Innerself Quad) के नाम से जाना जाता है, जिसके क्रमशः चार अंग हैं– मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार। ये चारों क्रमशः विकसित होते हैं, तभी उपयोगी सिद्ध हो पाते हैं। मन से बुद्धि, बुद्धि से चित्त, चित्त से अहंकार उत्पन्न होता है। पंचतत्त्वों द्वारा निर्मित शरीर में पंचविषयों का जागरण ही मानसिक विकास का आधार है। पंचविषयों का संयोग ही अन्तःकरण है। शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध को ही पंचविषय के नाम से जाना जाता है। आकाश से शब्द, वायु से स्पर्श, अग्नि से रूप, जल से रस एवं पृथ्वी से गन्ध विषय की उत्पत्ति होती है। पंचविषयों का संयोग ही मन है। विषयानुभूति ही मन की क्षमता का विकास है। किसी भी विषय पर विचार करने, बोध करने, स्मरण करने एवं तदनुसार व्यवहार धारण करने की सामर्थ्य को ही 'मनश्चतुष्टय' (Mental Quad) के नाम से जाना जाता है। इसे ही 'अन्तश्चतुष्टय' (Internal Quad) भी कहते हैं। यही अन्तर्ज्ञान चतुष्टय (Intellect Quad) भी कहलाता है।

मनश्चतुष्टय के चार आयामों का परिचय (Introduction of Four Dimensions of Mental Quad) :- मनश्चतुष्टय के भी चार आयाम होते हैं– मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार। इन चारों केन्द्रों में क्रमशः चार प्रकार की क्षमतायें विद्यमान रहती हैं– मननशक्ति, बोधशक्ति, स्मरणशक्ति, इच्छाशक्ति। इन चारों शक्तियों के केन्द्रों को ही 'मनश्चतुष्टय' (MQ) अथवा 'अन्तश्चतुष्टय' (IQ) के नाम से जाना जाता है। इसे अन्तःकरण (Innerself) भी कहते हैं। मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार को ही विमर्श, बोध, स्मृति, स्वाभिमान कहते हैं। ये चारों शक्तियाँ क्रमबद्ध हैं। क्रमशः विकसित होने पर ही इनकी सम्पूर्ण क्षमताओं का उदय होता है। स्थान आयाम से मन उत्पन्न होता है, समय आयाम से बुद्धि उत्पन्न होती है, कारण आयाम से चित्त (स्मृति) होती है, परिणाम आयाम से अहंकार (स्वाभिमान) उत्पन्न होता है। परमात्मा, प्राण, प्रकृति, पदार्थ इत्यादि चारों तत्त्वों को ही आधुनिक शब्दावली में क्रमशः स्थान **(Space)**, समय **(Time)**, कारण **(Cause)** एवं परिणाम **(Result)** के नाम से जाना जाता है। ये चारों तत्त्व क्रमशः अलग–अलग चार आयामों में प्रतिष्ठित हैं। तदनुसार ही मानवीय अन्तःकरण चतुष्टय की दशा अभिव्यक्त होती है।

मनश्चतुष्टय के विकास का महत्त्व (Importance of Mental Quad Development) :- मनस्तत्त्व के कारण ही किसी प्राणी को मनुष्य होने का गौरव प्राप्त होता है। दो पावों पर खड़े होकर रीढ़ को ऊर्ध्वमुखी रूप से सीधी रखते हुए चलने की सामर्थ्यवाले प्राणियों में ही मानसिक विकास की प्रबल संभावना होती है। मनश्चतुष्टय का विकास होने पर ही मानवता का उदय होता है। साधारण पशुतुल्य जीव के रूप में उत्पन्न होकर मनुष्य को मानवीय गरिमा मानसिक विकास के द्वारा ही प्राप्त होती है। अतः मनुष्य के जीवन में मनश्चतुष्टय का विकास अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

मनश्चतुष्टय के विकास के लाभ (Advantages of Mental Quad Development) :- मनश्चतुष्टय के विकास से ही मनुष्य में सोचने, समझने, स्मरण रखने एवं स्वमत अभिव्यक्त करने की दशा उत्पन्न होती है। मानसिक विकास ही मनुष्य को सृष्टि का सर्वश्रेष्ठ प्राणी सिद्ध करता है। अनेक

प्रकार के मानवीय कर्म मानसिक क्षमता द्वारा ही सम्पन्न होते हैं। मनुष्य में सामाजिक सभ्यता का उदय भी मानसिक क्षमता द्वारा ही होता है। मनश्चतुष्टय के विना मनुष्य कोई भी बुद्धिमत्तापूर्ण रचना नहीं कर सकता। विचार, बोध, स्मृति, स्वाभिमान की उपलब्धि मानसिक या आन्तरिक विकास के द्वारा ही संभव होती है। समस्त कार्ययोजनायें मानसिक क्षमता द्वारा ही निर्मित होती हैं। मनुष्यों का आहार-विहार, रहन-सहन, वाणी-भाषा, वेश-भूषा, प्रथा-परम्परा, शोध-अनुसंधान इत्यादि समस्त कार्यव्यवहार मनश्चतुष्टय के विकास द्वारा ही परिष्कृत होते हैं, जो उसे साधारण जंगली जीव से ऊपर उठाकर एक समृद्ध, सुसंस्कृत, सुसभ्य एवं समुन्नत प्राणी सिद्ध करते हैं। अधिकारों, कर्तव्यों, उत्तरदायित्वों का बोध भी इसी मानसिक क्षमता के द्वारा प्राप्त होता है। भयंकर जंगली जीवन को सभ्य सामाजिक जीवन में परिवर्तन करने की क्षमता मनश्चतुष्टय में ही होती है। दुर्गुण, दरिद्रता, दुःख एवं दासता से छुटकारा पाने में मनश्चतुष्टय की बहुत बड़ी भूमिका है। संसार में समस्त ज्ञान-विज्ञान मानसिक विकास की ही देन है।

***मनश्चतुष्टय के विकास के उपाय** (Methods of Development of Mental Quad) :-*

मनश्चतुष्टय के विकास हेतु शिक्षण-स्वाध्याय के उपायों की आवश्यकता होती है। संतुलित शिक्षण-स्वाध याय ही अन्तःकरण के चारों आयामों का विकास करते हैं। मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार को सुविकसित एवं परिष्कृत करने के लिए भाषा, गणित, संज्ञान, दर्शन आदि चारों विषयों की समुचित शिक्षा आवश्यक होती है। भाषा से मन का परिष्कार होता है। गणित से बुद्धि का परिष्कार होता है। संज्ञान से चित्त का परिष्कार होता है। दर्शन से अहंकार का परिष्कार होता है। इन चारों विषयों की शिक्षा के द्वारा ही मनश्चतुष्टय विकसित एवं परिष्कृत होता है, जिससे विचार, बोध, स्मृति, स्वाभिमान के विकसित एवं शुद्ध स्वरूप का उदय होता है। विद्यालयीन शिक्षा एवं स्वाध्यायशीलता के उपायों द्वारा मानसिक विकास संभव है। इन दोनों उपायों का संक्षिप्त परिचय निम्नलिखित है :-

***1) सुशिक्षण** (Good Education) :- सुशिक्षण को मानसिक विकास का प्रथम उपाय कहा जाता है। शुद्ध शिक्षण ही सुशिक्षण है। मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार इत्यादि अन्तःकरण चतुष्टय का परिष्कार ही मानसिक विकास का उद्देश्य है। अतः शिक्षण पाठ्यक्रम में भाषा, गणित, संज्ञान, दर्शन की शुद्ध शिक्षा का समावेश होता है। तदनुसार शुद्ध भाषा, शुद्ध गणित, शुद्ध संज्ञान एवं शुद्ध दर्शन के शिक्षण की व्यवस्था अपनायी जानी चाहिए। यदि शिक्षण के चारों विषय शुद्ध एवं सात्त्विक नहीं हैं, तो अन्तःकरण के चारों आयाम सुविकसित एवं परिष्कृत नहीं हो सकते। विद्यालयीन शिक्षणव्यवस्था प्रत्येक मनुष्य को 25 वर्ष की आयु तक अनिवार्य रूप से सुलभ होनी चाहिए, जिसमें समुचित शिक्षण-प्रशिक्षण की व्यवस्था सुलभ हो। प्रशिक्षण (Training) द्वारा अर्जित गुणकौशल भी स्वाभिमान की वृद्धि में सहायक है, क्योंकि प्रशिक्षण से गुणों, कौशलों का विकास होता है। शिक्षण से ज्ञान एवं प्रशिक्षण से गुण उत्पन्न होते हैं। अतः प्रशिक्षण को भी शिक्षण का ही अंग मानना चाहिए। अहंकार विकसित होने पर मनुष्य कुछ स्वयं करना चाहता है। अहंकार से ही कर्तृत्व उत्पन्न होता है। कर्तृत्व ही ईश्वरत्व है। स्वयं कुछ करने की चेष्टा से ही स्वाभिमान तृप्त होता है। चार ही मानवीय कर्म हैं- कृषि, वाणिज्य, राज्य, नेतृत्व। इन चारों कर्मों के प्रशिक्षण की आवश्यकता होती है। पात्रतानुसार चार में से किसी भी एक कर्म के कौशल का प्रशिक्षण प्रत्येक व्यक्ति के लिए अनिवार्य होता है।*

२) स्वाध्याय (Self Study) :- *जिन चारों विषयों का शिक्षण विद्यालय में सुलभ होता है, उन्हीं चारों विषयों का अध्ययन किसी भी मनुष्य द्वारा स्वयं अपने घर पर भी किया जा सकता है। स्वयं किया जानेवाला अध्ययन ही स्वाध्याय कहलाता है। स्वाध्याय के लिए प्रत्येक मनुष्य स्वतन्त्र है। इसके लिए उसे विद्यालय जाने की भी आवश्यकता नहीं है। चारों विषयों की पुस्तकें अर्जित करके स्वयं परिश्रमपूर्वक अध्ययन करते हुए अपने मनश्चतुष्टय का विकास प्रत्येक मनुष्य कर सकता है। अतः मनश्चतुष्टय के विकास के लिए विद्यालयीन शिक्षा के साथ-साथ स्वाध्याय भी एक महत्त्वपूर्ण उपाय है।*

मनश्चतुष्टय के विकास के चार घटक (Four Components of Development of Mental Quad) :- *मनश्चतुष्टय (MQ) या अन्तश्चतुष्टय (IQ) की सामर्थ्य का विकास क्रमशः मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार इत्यादि चार घटकों के विकास व परिष्कार पर निर्भर करता है। इन्हें ही विचार, बोध, स्मृति, स्वाभिमान का केन्द्र माना जाता है। इन चारों घटकों के विकास का परिचय निम्नलिखित है :-*

क) मन का विकास (Development of Mind) :- *मननशक्ति को ही 'मन' कहते हैं। मानवीय अन्तःकरण चतुष्टय का प्रथम घटक ही 'मन' है। मन में आकाशादि पंचतत्त्वों के प्रभाव से निम्नलिखित पाँच क्षमताओं के विकास की संभावना होती है :-*

१) वाक्शक्ति का विकास (Development of Vocal Power) :- *शब्दों का उच्चारण ही 'वाक्' है। बोलने की सामर्थ्य को ही 'वाक्शक्ति' कहते हैं। मानसिक क्षमता का यह प्रथम चरण है। शब्दों का निर्माण मन के द्वारा ही होता है। अन्तःकरण चतुष्टय के माध्यम से ही वाणी क्रियाशील होती है। इसके विपरीत वाणी द्वारा शब्दों के उच्चारण का प्रयत्न भी मानसिक विकास को प्रोत्साहित करता है। जैसे-जैसे मननशक्ति प्रबल होती है, वैसे-वैसे वाक्पटुता में वृद्धि होती है। मनन को ही चिन्तन, विमर्श, विचार व तर्क कहते हैं, जिसमें शब्दों का प्रवाह चलता है। शब्दों के निर्माण की प्रक्रिया ही मन का प्रथम गुणधर्म है, जिससे वाणी का उदय होता है। वाणी को ही वाक्शक्ति के नाम से जाना जाता है।*

२) लेखशक्ति का विकास (Development of Writing Power) :- *लिखने की सामर्थ्य को ही 'लेखशक्ति' कहते हैं। वाणी को लिपिबद्ध करने की चेष्टा ही लेखनक्रिया है। वाणी के द्वारा शब्दों का उच्चारण न करके लेखनकला के माध्यम से अपने मन्तव्य को व्यक्त करने का प्रयत्न लेखशक्ति के द्वारा भी सम्पन्न होता है। मानसिक सामर्थ्य का विकास किये विना लेखनकार्य संभव नहीं होता। मन अपने मन्तव्य अथवा विचार को लेखशक्ति के द्वारा भी अभिव्यक्त कर सकता है। अतः लेखशक्ति को मानसिक विकास का द्वितीय चरण कहा जाता है।*

३) विचारशक्ति का विकास (Development of Thinking Power) :- *सोचने की सामर्थ्य को ही 'विचार' कहते हैं। किसी सही अथवा गलत बात को समझने के लिए विचार की आवश्यकता होती है। मननशक्ति को ही 'विचार' कहते हैं। चिन्तन-मनन के द्वारा ही किसी बात का निर्णय करना संभव होता है कि वह बात सही है अथवा गलत। विचार एक महत्त्वपूर्ण मानसिक क्रिया है, जिसके द्वारा सत्-असत्, उचित-अनुचित, शुभ-अशुभ, हित-अहित, ग्राह्य-त्याज्य का निर्णय किया जाता है। किसी बात की शंका होने पर मन उस पर विचार करने लगता है। विचार करते हुए वह किसी निष्कर्ष पर जा पहुँचता है। इसे ही विचार की प्रक्रिया कहते हैं। किसी निर्णय तक पहुँचने में ऊहापोह का प्रवाह ही विचार की प्रक्रिया है। 'विचारशक्ति' को मानसिक विकास का तृतीय चरण कहा जा सकता है।*

४) तर्कशक्ति का विकास *(Development of Arguing Power)* **:-** *किसी बात को सही अथवा गलत प्रमाणित करने के लिए प्रयुक्त करी जानेवाली मानसिक युक्तियों को ही 'तर्क' कहते हैं। ऐसी युक्तियों-उदाहरणों द्वारा प्रस्तुत मानसिक तर्क किसी तथ्य अथवा सत्य को प्रामाणिक रूप से सही अथवा गलत सिद्ध करते हैं। विचार और तर्क में किंचित् भेद है। विचार उन बातों पर किया जाता है, जिनके सही अथवा गलत होने की प्रामाणिकता अभी तक नहीं है। किन्तु तर्क उन बातों पर किया जाता है, जिनके सही अथवा गलत होने की प्रामाणिकता अथवा मान्यता पहले से ही विद्यमान है। तारकशक्ति ही तर्क है। तर्क द्वारा ही उलझी हुई बातों को सुलझाया जा सकता है। भयंकर भ्रमजाल से मुक्त होने के लिए तार्किक प्रमाण की आवश्यकता होती है। भवसागर से तारने अथवा पार कराने में समर्थ होने के कारण ही इस मानसिक क्रिया को तर्क कहा जाता है। 'तर्कशक्ति' को मानसिक विकास का चतुर्थ चरण कहा जा सकता है।*

५) कल्पनाशक्ति का विकास *(Development of Imagining Power)* **:-** *अनुमान करने की सामर्थ्य को ही कल्पनाशक्ति के नाम से जाना जाता है। प्रायोजना ही कल्पना है। किसी कार्य को करने के लिए कार्यारम्भ से पूर्व जो योजना बनायी जाती है, उसे ही कल्पना कहते हैं। कल्पनाशक्ति के द्वारा ही अनेक प्रकार के भावी कर्मों को योजनाबद्ध तरीके से प्रारम्भ किया जा सकता है। जिन व्यक्तियों की कल्पनाशक्ति प्रबल नहीं है, वे किसी भवन का मानचित्र भी नहीं बना सकते। कल्पनाशक्ति के द्वारा ही कथाओं, कहानियों, उपन्यासों, नाटकों, फिल्मों, चित्रों, मानचित्रों, योजनाओं, प्रायोजनाओं की रचना होती है। कल्पनाशक्ति के द्वारा ही सृजन होता है, इसीलिए सृष्टि को कल्प के नाम से भी जाना जाता है। 'कल्पनाशक्ति' को मानसिक विकास का पंचम व अन्तिम चरण कहा जा सकता है।*

❁❁❁

ख) बुद्धि का विकास *(Development of Intelligence)* **:-** *बोधशक्ति को ही 'बुद्धि' कहते हैं। मानवीय अन्तःकरण चतुष्टय का द्वितीय घटक ही बुद्धि है। मननशक्ति के पश्चात् ही बोधशक्ति का विकास होता है। मननशक्ति क्षीण होने पर बोधशक्ति भी क्षीण हो जाती है। मन को तेजस्वी बनाकर ही बुद्धि को प्रदीप्त किया जा सकता है। मन के विना बुद्धि का अधिक उपयोग नहीं हो पाता। किसी भी शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध आदि विषयों के अर्थ को समझने की सामर्थ्य ही 'बुद्धि' है। बुद्धि में आकाशादि पंचतत्त्वों के प्रभाव से निम्नलिखित पाँच क्षमताओं के विकास की संभावना होती है :-*

१) शब्दबोध का विकास *(Development of Word Sense)* **:-** *'शब्द' का अभिप्राय 'ध्वनि', 'इंगित', 'संकेत' इत्यादि से है। अपने मन्तव्य को व्यक्त करने के लिए जिस ध्वनि, लिपि, इंगित, संकेत इत्यादि का प्रयोग किया जाता है, उसे ही 'शब्द' कहते हैं। शब्द की परिभाषा में अक्षरों, वर्णों, पदों, वाक्यों, अंकों, अंकसमूहों, वाक्यसमूहों आदि का समावेश होता है। भाषा एवं गणित के शब्दार्थ को समझने की सामर्थ्य ही बुद्धि का प्रथम चरण है। शब्दबोध की सामर्थ्य का विकास हुए विना बुद्धि का प्रारम्भ ही नहीं होता। मानसिक शक्ति का विकास होने के पश्चात् बोधशक्ति गणितीय प्रभाव से विकसित होने लगती है। मन से ही बुद्धि का उदय होता है। शब्दार्थबोध होने पर मनुष्य की निर्णयशक्ति अथवा समझ खुलने लगती है। कथा, कहानी, उपन्यास, नाटक, निबन्ध, लेख, वार्तालाप, चुटकुला, गीत, काव्य आदि के मन्तव्य एवं अर्थ की समझ 'शब्दबोध' द्वारा ही प्राप्त होती है।*

२) स्पर्शबोध का विकास *(Development of Touch Sense)* **:-** *शब्दबोध की भाँति स्पर्शबोध भी बौद्धिक विकास का एक महत्त्वपूर्ण लक्षण है। शीतल–उष्ण, कोमल–कठोर, स्निग्ध–तीक्ष्ण आदि अनेक प्रकार के प्रिय–अप्रिय स्पर्शों को अनुभव करने की सामर्थ्य को ही 'स्पर्शबोध' कहते हैं। स्पर्शबोध के अभाव में मनुष्य अधिक प्रबुद्ध नहीं हो सकता। बुद्धिमान होने के लिए केवल शब्दबोध ही पर्याप्त नहीं है। स्पर्शबोध भी किसी तथ्य को जानने में सहायक है, क्योंकि बोध ही ज्ञान है, बुद्धि ही किसी निर्णय को प्रोत्साहित करती है। बुद्धिहीन व्यक्ति कभी किसी ज्ञान अथवा निर्णय तक नहीं पहुँच सकते, बल्कि सदैव शंकालु एवं दिग्भ्रमित बने रहते हैं।*

३) रूपबोध का विकास *(Development of Figure Sense)* **:-** *किसी आकृति अथवा चित्र को ही 'रूप' कहते हैं। रूपबोध भी बुद्धिमत्ता के विकास में सहायक है। अनेक प्रकार के गोल, त्रिकोण, चत्कोण, पंचकोण, षटकोण अथवा अन्य किसी भी टेढ़े–मेढ़े, लम्बे–नाटे, छोटे–मोटे विविध प्रकार के रूपों–आकारों को अनुभव करने की सामर्थ्य को ही 'रूपबोध' कहा जाता है। लम्बाई, चौड़ाई, मोटाई के त्रिविध आयामों से युक्त किसी भी रूपाकार का बोध मानवीबुद्धि की एक महत्त्वपूर्ण क्षमता है। किसी भी रूप के सुन्दर–असुन्दर अथवा शुभ–अशुभ होने की अनुभूति रूपबोध के द्वारा ही प्राप्त होती है। जिन्हें रूपबोध नहीं होता, वे प्रायः मूर्ख रह जाते हैं। आकृतिबोध ही रूपबोध है।*

४) रसबोध का विकास *(Development of Taste Sense)* **:-** *रस का अभिप्राय स्वाद से है। स्वादेन्द्रियों के द्वारा अनेक प्रकार के रसों अथवा स्वादों की अनुभूति होती है। मधुर, अम्लीय, तिक्त, क्षारीय, कषाय एवं साधारण स्वादों के बोध को ही 'रसबोध' कहते हैं। आनन्द को भी रस कहा जाता है। किन्तु यहाँ पर रस का अभिप्राय स्वाद से ही है। स्वादबोध के विकास से भी बुद्धि का विकास होता है। प्रबुद्धता के संवर्धन हेतु रसबोध आवश्यक है। रसों की प्रियता–अप्रियता, शुभता–अशुभता का निर्णय स्मृति अथवा मान्यता पर अवलम्बित रहता है। किन्तु रसों की विविधता की अनुभूति बौद्धिक विकास द्वारा ही संभव है।*

५) गन्धबोध का विकास *(Development of Smell Sense)* **:-** *नासिका की घ्राणशक्ति के द्वारा जो सुगन्ध अथवा दुर्गन्ध का अनुभव होता है, उसे ही 'गन्धबोध' कहते हैं। शुभ–अशुभ, सुखद–दुःखद, प्रिय–अप्रिय किसी भी प्रकार की गन्ध हो सकती है। अनेक प्रकार की गन्धों का बोध करने की सामर्थ्य को भी प्रबुद्धता का लक्षण माना जाता है। प्राकृतिक रूप से उत्पन्न होनेवाले फूलों में अनेक प्रकार की सुगन्ध पायी जाती है। प्रायः सभी प्रकार के पदार्थों में किसी न किसी प्रकार की गन्ध विद्यमान हो सकती है। गन्ध की तीव्रता अथवा मन्दता पर ही गन्ध की अनुभूति निर्भर करती है। तीव्रगन्ध को सहज ही बुद्धि द्वारा अनुभव किया जा सकता है। गन्ध की गुणवत्ता अथवा उसके प्रकारों को भिन्न–भिन्न अनुभवों द्वारा बोध करने की सामर्थ्य का विकास ही बुद्धिमत्ता के विकास में सहायक है। गन्धबोध भी स्मृति द्वारा प्रभावित रहता है। किन्तु गन्धों की विविधता बुद्धि द्वारा ही अनुभव होती है, चाहे यह बुद्धि सचेतन हो या अचेतन।*

❀❀❀

***ग) स्मृति का विकास** (Development of Memory) :- चित्त को ही 'स्मृति' कहते हैं। स्मरणशक्ति को ही 'स्मृति' के नाम से जाना जाता है। मानवीय अन्तःकरण चतुष्टय का तृतीय घटक ही 'स्मृति' है। स्मृतिकेन्द्र ही चित्त है, जिसमें अनेक प्रकार की स्मृतियाँ संचित रहती हैं। मनुष्य को अपनी महत्त्वपूर्ण बातें याद रखने के लिए स्मृतिकेन्द्र की आवश्यकता होती है। स्मरणशक्ति मानवजीवन के लिए बहुत ही आवश्यक एवं उपयोगी है। स्मृतिकेन्द्र में आकाशादि पंचतत्त्वों के प्रभाव से निम्नलिखित पाँच क्षमताओं के विकास की संभावना होती है :–*

***१) वक्तव्यस्मृति का विकास** (Development of Statement Memory) :- वक्तव्य स्मृति को स्मरणशक्ति के विकास का प्रथम लक्षण जानना चाहिए। किसी के द्वारा कहे गए वचनों, कथनों को ही 'वक्तव्य' कहते हैं। कहे, सुने, पढ़े हुए वक्तव्यों को स्मरण रखने की सामर्थ्य को ही 'वक्तव्यस्मृति' कहते हैं। महत्त्वपूर्ण वचनों, सन्देशों, आदेशों, नियमों इत्यादि को स्मरण रखने में समर्थ हुए विना मानवजीवन सफल नहीं हो सकता। वक्तव्यों के अर्थ को समझना बुद्धि द्वारा होता है। किन्तु वक्तव्यों को याद रखना स्मृति द्वारा ही संभव है।*

***२) घटनास्मृति का विकास** (Development of Incident Memory) :- मनुष्यों के समक्ष अनेक प्रकार की घटनायें होती हैं, जिन्हें स्मरण रखने की सामर्थ्य को ही 'घटनास्मृति' के नाम से जाना जाता है। किसी घटना को कितनी स्पष्टता से याद रखा जा सकता है, यह स्मरणशक्ति की क्षमता पर निर्भर है। अनेक प्रकार की घटनाओं को याद रखना और आवश्यक होने पर ज्यों का त्यों उनका वर्णन कर देना मनुष्य की स्मरणशक्ति के विकास द्वारा ही संभव है।*

***३) चित्रस्मृति का विकास** (Development of Picture Memory):- मनुष्यों के सामने अनेक प्रकार के चित्र उपस्थित होते रहते हैं। उनमें से किसी चित्रविशेष को स्मरण रखने की आवश्यकता भी उत्पन्न हो सकती है। ऐसी स्थिति में चित्रस्मृति का विकास अनिवार्य हो जाता है। विगत समय में देखे हुए किसी चित्र को आवश्यक होने पर ज्यों का त्यों वर्णन करने की सामर्थ्य मानवीय स्मृतिकेन्द्र का अद्‌भुत प्रमाण है। चित्रस्मृति के विकास का अभ्यास करके इस उपलब्धि को अर्जित किया जा सकता है।*

***४) गीतस्मृति का विकास** (Development of Song Memory) :- किसी काव्यात्मक रचना को ही 'गीत' कहते हैं। गीत को पढ़ या सुन कर कोई व्यक्ति कितनी मात्रा में स्मरण रख पाता है, यह उसकी स्मरणशक्ति के विकास पर निर्भर करता है। गीतस्मृति के अभ्यास द्वारा स्मरणशक्ति का विकास किया जा सकता है। गीतस्मृति भी मानवीय स्मृतिकेन्द्र की अद्‌भुत उपयोगिता है। गीतों को याद रखने की चेष्टा से स्मृतिकेन्द्र का जागरण होता है। गीतस्मृति से मनुष्यों में सुर, लय, ताल, तरंग का विकास होता है, जिससे मनुष्यों की भावनायें संवेदनशील बनती हैं। गीतस्मृति मनुष्यों के भावनात्मक विकास में सहायक है।*

***५) कथास्मृति का विकास** (Development of Story Memory) :- किसी कथा, कहानी, नाटक, फिल्म, चुटकुले को स्मरण रखने की क्षमता को ही 'कथास्मृति' कहते हैं। किसी फिल्म या नाटक की पटकथा को देखने, पढ़ने या सुनने के पश्चात् भविष्य में आवश्यक होने पर उसे ज्यों का त्यों अथवा उसके महत्त्वपूर्ण अंशों को ज्यों का त्यों प्रस्तुत कर देने के अद्‌भुत कौशल का उदय कथास्मृति द्वारा ही संभव होता है। कथास्मृति की सामर्थ्य भी मानवजीवन के लिए अत्यन्त उपयोगी है। कथाओं को स्मरण करने की चेष्टा द्वारा स्मृतिकेन्द्र का विकास किया जा सकता है।*

❀❀❀

घ) स्वाभिमान का विकास *(Development of Self Respect) :- अभिव्यक्त आकार ही 'अहंकार' है। अहंकार को ही 'स्वाभिमान' कहते हैं। मानवीय अन्तःकरण चतुष्टय का चतुर्थ घटक ही 'स्वाभिमान' है। स्वयं को जो कुछ भी मानते हैं, वही स्वाभिमान है। व्यक्ति जो कुछ भी सोचता है, समझता है, स्मरण रखता है, वही स्वयं को मान बैठता है। अहंकार या स्वाभिमान से ही इच्छाशक्ति का उदय होता है। अतः इच्छाशक्ति को स्वाभिमान व अहंकार कहा जा सकता है, क्योंकि स्वाभिमान के विना स्वेच्छा का जन्म नहीं होता। स्वाभिमान ही इच्छा, आकांक्षा, वृत्ति का प्रेरक है। स्वाभिमान ही मनुष्यों के स्वभाव को जन्म देता है। मनुष्य के मनश्चतुष्टय के परिष्कार द्वारा ही उसके सकारात्मक स्वाभिमान का उदय होता है। स्वाभिमान में आकाशादि पंचतत्त्वों के प्रभाव से निम्नलिखित पाँच क्षमताओं के विकास की संभावना होती है :–*

१) स्वमताभिमान का विकास *(Development of Proud on Self Opinion) :- किसी भी विषयविशेष पर अपना मत व्यक्त करने की क्षमता को ही 'स्वमत' का अभिमान कहते हैं। ज्ञान ही मत है, विज्ञान ही मत है। जो जितना और जैसा जानता है, वह उतना ही और वैसा ही मानता है। व्यक्ति जो कुछ भी जानता और मानता है, वही उसका मत हो जाता है। मान्यता को ही 'मत' कहते हैं। मनुष्य की मन, बुद्धि और स्मृति द्वारा निष्कर्षित ज्ञान–विज्ञान ही उसके मत अथवा उसकी मान्यता को जन्म देता है। स्वमताभिमान का विकास हुए विना कोई भी व्यक्ति किसी विषय पर अपना मत व्यक्त नहीं कर पाता और समाज में पिछड़ जाता है। स्वमत की अभिव्यक्ति के लिए स्वमताभिमान के विकास की आवश्यकता होती है। स्वाभिमान के विकास का यह प्रथम लक्षण है। स्वमताभिमान शुभ या अशुभ किसी भी रूप में हो सकता है। मूलतः मत दो ही प्रकार के हो सकते हैं– सात्त्विक एवं दूषित। इन्हें ही 'सुमत' अथवा 'कुमत' कहा जाता है। सुमत केवल एक प्रकार का होता है, कुमत अनेक प्रकार के हो सकते हैं।*

२) स्वकर्माभिमान का विकास *(Development of Proud on Self Action) :- स्वयं द्वारा किये जानेवाले कर्मों को 'स्वकर्म' कहते हैं। मत से ही कर्म का उदय होता है। स्वकर्म के अभिमान का विकास हुए विना कोई भी व्यक्ति स्वाभिमानी नहीं हो पाता। पूर्ण विश्वास के साथ अपने कर्म को न कर पाने की दशा स्वकर्माभिमान के अभाव में ही उत्पन्न होती है। 'ये मेरा कर्म है'– ऐसा मानना ही स्वकर्म का अभिमान कहलाता है। कर्मों, कार्यों, कर्तव्यों, उत्तरदायित्वों की स्वीकृति द्वारा ही स्वकर्माभिमान का विकास होता है।*

३) स्वरूपाभिमान का विकास *(Development of Proud on Self Structure) :- स्वयं के रूपाकार को ही 'स्वरूप' कहते हैं। स्वरूपाभिमान का विकास भी मनुष्य को स्वाभिमानी बनाता है। मनुष्य अपने रूप से असंतुष्ट होने पर उसके सुधार, संशोधन, उद्धार, उत्थान के लिए प्रयत्नशील होता है। स्वरूपबोध पर ही स्वरूपाभिमान निर्भर करता है। कोई व्यक्ति अपने रूप के बारे में जैसा अनुभव करता है, वैसा ही स्वभिमान विकसित होता है। 'मैं ऐसा हूँ'– ऐसी मान्यता ही स्वरूप का अभिमान है। कोई व्यक्ति अपने स्वरूप को क्या मानता है, कैसा मानता है, यही उसका स्वरूपाभिमान है। सुन्दर–असुन्दर, शुभ–अशुभ, संकुचित–व्यापक, छोटा–बड़ा, स्थूल–सूक्ष्म आदि मान्यतायें ही उसके स्वरूपाभिमान को व्यक्त करती हैं।*

४) स्वगुणाभिमान का विकास (Development of Proud on Self Vitrue) :- *स्वयं के गुणों को ही 'स्वगुण' कहते हैं। स्वाभिमान विकसित होने पर ही व्यक्ति अपने गुणों के विकास के लिए प्रेरित होता है। स्वगुणाभिमान उत्पन्न होने पर ही व्यक्ति स्वयं के गुणों से संतुष्ट अथवा असंतुष्ट होता है। 'मैं इस गुण वाला हूँ' –ऐसी मान्यता ही स्वगुणाभिमान है। स्वगुण से असंतुष्ट होने पर स्वाभिमानी व्यक्ति अपने गुणों का उत्थान करने को उद्यत होता है। जिसका स्वाभिमान क्षीण है, वह कभी गुणोत्थान नहीं कर सकता। गुणहीन होने पर स्वाभिमान विकसित नहीं हो पाता। गुणों के द्वारा ही किसी भी व्यक्ति की मूल्यवत्ता, महत्ता, महिमा, गरिमा उत्पन्न होती है। अपने गुण, कौशल, दक्षता, प्रवीणता का अभिमान ही उन गुण–कौशलादि की रक्षा एवं विकास में सहायक है।*

५) स्वपदाभिमान का विकास (Development of Proud on Self Post) :- *कोई व्यक्ति जिस पद पर प्रतिष्ठित रहता है, उसे ही उसका 'स्वपद' कहा जाता है। स्वपदाभिमान ही व्यक्ति को पदोन्नति इत्यादि के लिए प्रेरित करता है, तथा स्वयं के पद सम्बन्धी कर्तव्यों एवं उत्तरदायित्वों को भलीभाँति सम्पन्न करने के लिए प्रेरित एवं उत्साहित करता है। स्वपद अनेक प्रकार के हो सकते हैं– वरीयपद, कर्मपद, सम्बन्धपद आदि। जो जिस पद पर है यदि उसे उस पद का अभिमान नहीं है, तो वह अपने पदभार को वहन नहीं कर सकता। जब तक जो व्यक्ति जिस पद पर नियुक्त है, तब तक उसे उस पद का स्वाभिमान होना चाहिए। यह स्वपदाभिमान के विकास द्वारा ही संभव है।*

❁❁❁

अध्याय : ३

भावनात्मक क्षमता विकास

(Emotional Capability Development)

संवेदना, साहस, श्रद्धा, सद्‌वृत्ति इत्यादि के रूप में भावचतुष्टय के विकास की प्रक्रिया

(Development Process of Emotional Quad in the form of Senstivity, Courage, Receptivity, Good Tendency)

भावनात्मक क्षमता विकास
(Emotional Capability Development)

भाव का परिचय (Introduction of Emotions) :- *मानवजीवन का तृतीय आयाम भावनात्मक केन्द्र में प्रतिष्ठित है। भावनात्मक प्रवाह प्राणऊर्जा की तरंगें हैं। प्राण में प्रतिष्ठित प्राकृतिक गुण अथवा सांस्कृतिक संस्कार ही मनुष्य का 'स्वभाव' कहलाता है। गुण अथवा संस्कार ही स्वभाव के रूप में प्रतिष्ठित रहते हैं। इच्छाओं, चाहतों, आकांक्षाओं, वृत्तियों का प्रवाह ही 'भाव' के नाम से जाना जाता है। भावों का निर्माण प्रकृति अथवा संस्कृति के द्वारा होता है। मनुष्य जिस प्राकृतिक अथवा सांस्कृतिक वातावरण में रहता है, तदनुसार ही उसकी भावनाओं का निर्माण होता है। भावनाओं का अस्तित्व शुभ-अशुभ, सात्त्विक-दूषित सही-गलत, भला-बुरा हो सकता है। जिस भी दृष्टिकोण पर आधारित संस्कृति अथवा प्रकृति का अस्तित्व होता है, तदनुकूल ही शुभाशुभ भावों का निर्माण होता है। हृदय ही इन समस्त भावनाओं का केन्द्र होता है। हृदय में ही गुण, संस्कार, प्रण, व्रत, मत, मान्यता की प्रतिष्ठा होती है, जो भाव के प्रकाशक हैं। मनुष्यों का स्वाभिमान ही उनके स्वभाव का आधार है। जैसा स्वाभिमान होगा, वैसा ही स्वभाव व्यक्त होता है। जो स्वयं को जैसा मानता है, उसका स्वभाव वैसा ही हो जाता है।*

भावों के निर्माण की प्रक्रिया (Process of Creating Emotions) :- *कर्मों के अभ्यास द्वारा भावों का निर्माण होता है। आचार-व्यवहार सम्बन्धी जो कुछ भी कर्म किये जाते हैं, उनकी स्मृति हृदय में संकलित होती रहती है। कर्मसंचय ही भावनाओं के रूप में प्रतिष्ठित होता है। पूर्व में किये गए समस्त कर्मों की छाप को ही प्राकृतिक भाव कहते हैं। संस्कृति द्वारा सम्पूर्ण प्रकृति को शुद्ध किया जा सकता है। पूर्वकृत कर्मों की शुद्धि के लिए शुद्ध सांस्कृतिक कर्मों का आचरण किया जाता है, जिसे मनुष्यों का भावनात्मक विकास अथवा भावनात्मक परिष्कार कहते हैं। प्राकृतिक भाव अचेतन होते हैं, सांस्कृतिक भाव सचेतन होते हैं। हृदयकेन्द्र की अचेतन दशा में उठनेवाली भावतरंगे अनियन्त्रित होती हैं, मनुष्य को बलपूर्वक किसी भी कर्म के लिए प्रेरित करती हैं। अतः वे प्राकृतिक आवेग अथवा प्राकृतिक विकार के रूप में शारीरिक दशा वाली हो जाती हैं। इसलिए ऐसे प्राकृतिक आवेगों अथवा विकारों को भावनात्मक विकास की श्रेणी में नहीं रखा जाता। वे शारीरिक विकास का ही अंग माने जाते हैं।*

भावचतुष्टय का परिचय (Introduction of Emotional Quad) :- *भावचतुष्टय का अभिप्राय भावनाओं के उन चार प्रकारों से है, जो क्रमशः चार आयामों द्वारा अभिप्रेरित होते हैं। स्थान (Space), समय (Time), कारण (Cause) एवं परिणाम (Result) क्रमशः मानवीय भावनाओं को भी प्रभावित करते हैं। हृदय में चारों आयामों के प्रभाव से क्रमशः संवेदना, साहस, श्रद्धा, सद्वृत्ति का जागरण होता है। इन भावतरंगों को ही 'भावचतुष्टय' के नाम से जाना जाता है। प्रत्येक भावतरंग मौलिक रूप से हृदय में अपने केन्द्र में प्रतिष्ठित रहती है, जिसे प्रयत्नपूर्वक विकसित करके आवश्यकतानुसार सक्रिय बनाया जा सकता है।*

***भावनात्मक विकास का अभिप्राय* (Meaning of Emotional Development) :-**

मनुष्यों में ही भावनात्मक विकास की संभावना होती है। अन्य किसी भी जीव में सचेतन भावनात्मक विकास संभव नहीं होता। वे प्राकृत होते हैं। वे स्वतः अपनी भावनाओं का उपयोग नहीं कर पाते, बल्कि भावनाओं द्वारा वे यन्त्रवत् उपयोग होते हैं। उनके भाव प्राकृतिक आवेगों एवं विकारों के रूप में कार्य करते हैं। पशुतुल्य प्राणियों के अचेतन भावनात्मक आवेग भूख, प्यास, क्रीड़ा, निद्रा, जीविषा के रूप में ही प्रकट होते हैं। जीविषा से भय की अनुभूति, निद्रा से आलस्य की अनुभूति, क्रीड़ा से रति की अनुभूति, प्यास से रुक्षता की अनुभूति, भूख से पीड़ा की अनुभूति होती है। ये प्राकृतिक आवेग दूसरों के प्रति संवेदनशील नहीं होते। इन आवेगों की भाँति ही मान, काम, क्रोध, लोभ, मोह इत्यादि पंच प्राकृतिक विकार भी मनुष्यों के हृदय में उत्पन्न होते हैं। ये पंच आवेग और पंचविकार शारीरिक होते हैं। इन्हें भावनात्मक विकास का लक्षण नहीं माना जाता, क्योंकि भावनात्मक विकास का अभिप्राय तो हृदय में ऐसी संवेदनशील तरंगों की सक्रियता से है, जो अनेक प्रकार की अनुभूतियाँ प्रदान करती हैं। ये भावतरंगें प्रेरक के रूप में कार्य करती हैं। मानवीय हृदय में संवेदना, साहस, श्रद्धा एवं सद्वृत्ति के जागरण को ही भावनात्मक विकास कहते हैं। भावनात्मक विकास होने के पश्चात् मनुष्यों में संवेदनशीलता, साहसिकता, श्रद्धालुता एवं सद्वृत्तिपरायणता के लक्षण पाये जाते हैं।

***भावनात्मक विकास के आयाम* (Dimensions of Emotional Development) :-**

भावचतुष्टय की विकासयात्रा को ही भावनात्मक विकास कहते हैं। अतः भावनात्मक विकास के भी चार आयाम होते हैं– संवेदना, साहस, श्रद्धा, सत्वृत्ति। ये चारों आयाम क्रमबद्ध हैं। क्रमशः विकसित होने पर ही इनकी सम्पूर्ण क्षमताओं का उदय होता है। इन चारों क्रमबद्ध आयामों को ही भावचतुष्टय के नाम से जाना जाता है। 'स्थान' नामक आयाम से संवेदना उत्पन्न होती है, 'समय' नामक आयाम से साहस उत्पन्न होता है, 'कारण' नामक आयाम से श्रद्धा होती है, 'परिणाम' नामक आयाम से प्रवृत्ति उत्पन्न होती है। परमात्मा, प्राण, प्रकृति एवं पदार्थ इत्यादि चारों तत्त्वों को ही क्रमशः स्थान (Space), समय (Time), कारण (Cause) एवं परिणाम (Result) के नाम से जाना जाता है। ये चारों तत्त्व क्रमशः अलग–अलग चार आयामों में प्रतिष्ठित हैं। तदनुसार ही भावचतुष्टय की दशा प्रतिष्ठित है। इन चारों भावनात्मक तरंगों की पंचीकृत विकासयात्रा होती है। शरीर का निर्माण करने वाले पाँचों तत्त्व प्रत्येक भावधारा को अपना गुणधर्म प्रदान कर देते हैं। तदनुसार संवेदना, साहस, श्रद्धा, सत्प्रवृत्ति का भी पंचीकरण हो जाता है।

***भावनात्मक विकास का महत्त्व* (Importance of Emotional Development) :-**

भावचतुष्टय का विकास किये विना किसी भी मनुष्य में भावनात्मक क्षमता का उदय नहीं होता। भावनायें ही विचारों और कर्मों को अभिप्रेरित करती हैं। भावनात्मक विकास के प्रभाव से मनुष्य तृतीय वरीयता को प्राप्त हो जाता है। जैसे पैर से ऊपर उदर है, वैसे ही उदर से ऊपर हृदय स्थित है। व्यक्तित्व का उत्थान करने के लिए मनुष्य को तन, मन, प्राण, आत्मा की क्रमबद्ध विकासयात्रा में उन्नति करनी आवश्यक है। मानवजीवन की विकासयात्रा वास्तव में व्यक्तित्व का क्रमोत्थान भी करती है। प्राण क्रमशः तीसरे आयाम में प्रतिष्ठित है, जो भावनाओं का केन्द्र है। भावनात्मक विकास के द्वारा ही मनुष्यों में प्रेम का उदय होता है। प्रेमपूर्ण भावनायें ही संवेदनशील, साहसी, श्रद्धालु एवं सद्वृत्तिपरायण होती हैं। प्रेम ही मनुष्य में देवत्व का विकास करता है। प्रेम की पूर्णता सिद्ध होने पर मनुष्यों में भी देवताओं जैसे शुभ लक्षण प्रदीप्त होने लगते हैं तथा दिव्य सामर्थ्य का भी जागरण होने लगता है। देवसभ्यता में प्रवेश का आधार भी यही है। प्रेमपूर्ण होने पर मनुष्य दिव्य हो जाते हैं। दूसरों के प्रति स्वीकारभाव ही प्रेम है। प्रेम ही भावनात्मक विकास के उपलब्धि है।

भावनात्मक विकास के लाभ (Advantages of Emotional Development) :-
भावनात्मक विकास ही मनुष्य को प्रेमपूर्ण बनाता है। प्रेम ही पारिवारिक जीवन का आधार है। पारिवारिक सभ्यता का उदय प्रेम द्वारा ही होता है। प्रेम प्रारम्भ होने पर ही परिवार वसता है। प्रेम पूर्ण होने पर ही सभ्यता वसती है। पूर्ण प्रेमभाव को प्राप्त व्यक्ति देवसभ्यता के लिए भी पात्र माने जाते हैं। प्रेम दिव्य है। प्रेम ही मनुष्यों को दूसरों के प्रति सेवा, रक्षा, पालन की सामर्थ्य प्रदान करता है। संवेदनशीलता, साहसिकता, श्रद्धालुता, सद्वृत्तिपरायणता की उपलब्धि ही भावनात्मक विकास है, जो मनुष्य को अतिमानवीय क्षमतायें प्रदान करता है। राजकीय पदों पर नियुक्ति हेतु भावनात्मक विकास की अनिवार्य आवश्यकता होती है। लोकसेवन, लोकरक्षण, लोकपालन ही राज्यकर्म के नाम से जाना जाता है। भावनात्मक क्षमता के विना राजकीय कर्मों का सफल सम्पादन नहीं किया जा सकता। राजकीय कर्म, पद, सम्पदा को धारण करने की सामर्थ्य भावनात्मक विकास से ही प्राप्त होती है।

भावनात्मक विकास के उपाय (Methods of Emotional Development) :- *भावचतुष्टय के विकास हेतु संतुलित आचार–व्यवहार की आवश्यकता होती है। संवेदना, साहस, श्रद्धा, सत्वृत्ति को ही भावचतुष्टय कहते हैं। इन चारों प्रकार की भावनाओं का विकास सप्रयास ही संभव होता है। प्राकृतिक भावतरंगें संस्कारित हुए विना शुद्ध नहीं होतीं। प्राकृतिक भावनायें शारीरिक आवेग अथवा विकार के रूप में होती हैं। उनमें शुद्धता नहीं होती। उन पर नियन्त्रण नहीं रहता। प्राकृतिक आवेग एवं विकार पशुतुल्य होते हैं। अतः मनुष्यों को परिष्कृत भावनाओं की आवश्यकता होती है। मनुष्य जंगली प्राणियों की भाँति जीवनयापन नहीं कर सकता। यह एक सामाजिक एवं सभ्य प्राणी है, अतः इसे परिष्कृत विचारों एवं परिष्कृत भाववृत्तियों के विकास की आवश्यकता है। भावनात्मक विकास के लिए संतुलित आचार एवं संतुलित व्यवहार आवश्यक है। संतुलित आचार–व्यवहार को ही सदाचार एवं सद्व्यवहार कहते हैं, जिनका परिचय निम्नलिखित है :–*

१) सदाचार (Good Character) :- *सात्त्विक आचार को ही 'सदाचार' कहते हैं। सदाचार में दो शब्दों का संयोग है–'सत्'+'आचार'। जो कुछ भी शुभ है, सही है, शुद्ध है, पवित्र है, सुन्दर है, सम है, सुखद है, विधेय है, सकारात्मक है, उसे ही 'सत्' कहा जाता है। सत् के अनुकूल आचार ही भावनात्मक विकास का आधार है। आचारसम्बन्धी संतुलित नियमों–नीतियों–निर्णयों के द्वारा मनुष्यों के स्वाभाविक गुणों का परिष्कार किया जा सकता है। संतुलित आचार ही संतुलित भावनाओं का निर्माण करने में सक्षम है। प्राकृतिक आवेगों को सांस्कृतिक भाव में परिवर्तित करने के लिए आचारप्रक्रिया का शुद्धिकरण आवश्यक है। सात्त्विक आचारप्रक्रिया ही हृदय में सद्गुणों को प्रतिष्ठित करके सद्भावनाओं को जाग्रत करती है। अतः सदाचार के नियमादि का पालन ही सद्भाव के विकास का आधार है। गुणात्मक शुद्धि के विना भावनात्मक परिष्कार संभव नहीं है। गुणात्मक उत्थान के लिए सदाचार अनिवार्य है।*

२) सद्व्यवहार (Good Behavior) :- *सात्त्विक व्यवहार को ही 'सद्व्यवहार' कहते हैं। सद्व्यवहार में दो शब्दों का संयोग है–'सत्'+'व्यवहार'। जो कुछ भी शुभ है, सही है, शुद्ध है, पवित्र है, सुन्दर है, सम है, सुखद है, विधेय है, सकारात्मक है, उसे ही 'सत्' कहा जाता है। सत् के अनुकूल व्यवहार ही भावनात्मक विकास का आधार है। सदाचार के साथ सद्व्यवहार को भी भावनात्मक विकास का आधार माना जाता है। संतुलित व्यवहार को स्वीकार करके भावनात्मक विकास का लक्ष्य प्राप्त किया जा सकता है। आचार निजी होता है, किन्तु व्यवहार पारस्परिक होता है। किन्हीं दो या दो से*

अधिक पक्षों के बीच संतुलित व्यवहार स्थापित होने पर सकारात्मक सम्बन्धों का उदय होता है। भावनात्मक विकास में सम्बन्धों की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। नकारात्मक सम्बन्ध जिस प्रकार से भावनाओं को दूषित करते हैं, उसी प्रकार से सकारात्मक सम्बन्ध भावनाओं को पवित्र करते हैं। शत्रुभाव और मित्रभाव में स्पष्ट भेद है। दुर्भाव का सद्भाव में रुपान्तरण ही भावनात्मक विकास एवं परिष्कार का उद्देश्य है। सात्त्विक भाव को ही सद्भाव कहते हैं एवं दूषित भाव को ही दुर्भाव कहते हैं। पंचदोषों से ग्रस्त व्यक्ति ही दूसरों के प्रति दुर्भाव धारण करते हैं एवं दुर्व्यवहार करते हैं।

***भावनात्मक विकास के चार घटक** (Four Components of Emotional Development)*

***:-** भावनात्मक क्षमता का विकास क्रमशः संवेदना, साहस, श्रद्धा, सद्वृत्ति के रूप में चार घटकों के विकास पर निर्भर करता है। इन चारों घटकों के विकास का परिचय निम्नलिखित है :–*

***क) संवेदनशीलता का विकास** (Development of Sensitivity) :- पीड़ा को ही वेदना कहते हैं। सम्यक् वेदना की अनुभूति को ही 'संवेदना' के नाम से जाना जाता है। दूसरों की वेदना को सम्यक् रूप से अनुभव करनेवाले मनुष्य ही संवेदनशील होते हैं। संवेदनशीलता ही भावनात्मक विकास का प्रथम चरण है। संवेदनशीलता के पाँच लक्षणों का परिचय निम्नलिखित है :–*

***१) सरलता का विकास** (Development of Simplicity) :- सरलता ही संवेदनशीलता का प्रथम लक्षण है। संवेदनशील व्यक्तियों में भावनात्मक सरलता पायी जाती है। भावनात्मक विकास हुए विना मनुष्य जटिल होते हैं। उनकी सभी बातें उलझी हुई होती हैं। सही बात सिद्ध होने पर भी वे शंका, संशय, सन्देह से ग्रस्त रहते हैं। वे कभी किसी निष्कर्ष को पूर्णतः स्वीकार नहीं कर पाते। भावनात्मक जटिलता व्यक्ति को नकारात्मक बना देती है। वह सदैव नकारात्मक चिन्तन से ग्रस्त रहता है तथा किसी भी कार्य को पूर्णता तक नहीं ले जा पाता। स्वभाव में सरलता विकसित होने पर ही जटिलता समाप्त होती है। सरलता ही प्रथम सद्गुण है, जो सुसंस्कारों से उत्पन्न होती है।*

***२) विनम्रता का विकास** (Development of Politeness) :- विनम्रता ही संवेदनशीलता का द्वितीय लक्षण है। संवेदनशील व्यक्ति विनम्र होते हैं। अविनम्रता एवं कठोरता उनके स्वभाव में नहीं पायी जाती। दूसरों के प्रति स्वीकारभाव होने के कारण ही विनम्रता उत्पन्न होती है। विनम्र व्यक्तियों में लचीलापन होता है। इनकी भावनाओं में जड़ता नहीं होती। किसी भी विषय पर यथार्थ प्रकट होते ही वे सहज ही उसे स्वीकार करते हैं। ये किसी भी मिथमान्यता पर हठपूर्वक नहीं अड़ते। अपनी मान्यता के विरुद्ध भी प्रकट सत्य को स्वीकार करना, अपनी मान्यताओं को परिवर्तित करने तत्पर हो जाना ही विनम्रता का लक्षण है। स्वभाव में विनम्रता विकसित हुए विना कठोरता समाप्त नहीं होती। हठता–कठता–शठता की समाप्ति विनम्रभाव द्वारा ही संभव है।*

***३) उदारता का विकास** (Development of Liberality) :- उदारता ही संवेदनशीलता का तृतीय लक्षण है। संवेदनशीलता की वृद्धि होने पर व्यक्तियों में उदारता के लक्षण प्रकट होने लगते हैं। वह दूसरों के साथ उदारभाव धारण करते हैं। वे दूसरों के हिताधिकारों पर बलात् आक्रमण नहीं करते, बल्कि उनके अस्तित्व को ज्यों का त्यों स्वीकार करते और उन्हें भी अपने स्वभाव में जीने की स्वतन्त्रता प्रदान करते हैं। वे दूसरों के लिए समुचित अवसर, स्थान, पद एवं साधन सुलभ बनाए रखने का प्रयत्न करते हैं। स्वभाव में उदारता विकसित होने पर ही संकीर्णता समाप्त होती है।*

४) दयालुता का विकास *(Development of Kindness)* **:-** *दयालुता ही संवेदनशीलता का चतुर्थ लक्षण है। करुणा को ही 'दया' कहते हैं। दूसरों को संकट में देखकर द्रवित होना करुण होना ही दयालुता का लक्षण है। संकट में सहायता करने की चेष्या को ही करुणा अथवा दया के नाम से जाना जाता है। अपने से कनिष्ठ, असमर्थ व दीन के प्रति सहयोग का भाव ही दयालुता है। संवेदनशीलता की वृद्धि होने पर व्यक्तियों में दयालुता के लक्षण भी प्रकट होते हैं। स्वभाव में दयालुता एवं करुणा विकसित होने पर ही क्रूरता समाप्त होती है। किन्तु आटे में काँटा छिपाकर मछली को आटा खिलाने वाले मछुवारे दयालु नहीं माने जाते। जाल पर दाना छिड़कनेवाले व्याध (शिकारी) कभी दयालु नहीं होते। वे करुण नहीं क्रूर होते हैं।*

५) सम्बद्धता का विकास *(Development of Relativity)* **:-** *सम्बद्धताजनित सेवापरायणता ही संवेदनशीलता का पंचम लक्षण है। संवेदनशीलता में वृद्धि के कारण ही दूसरों के प्रति गहन सम्बद्धता अनुभव होती है, जिससे उसके कार्यों को अपने कार्य जैसा करने की सेवाभावना उत्पन्न होती है। सेवाभाव का जागरण संवेदनशीलता के विकास से ही होता है। सेवा का अभिप्राय रक्षण एवं पालन से है। संवेदनशील व्यक्ति दूसरों के रक्षण, सेवन, पालन हेतु सदैव उद्यत रहते हैं। सेवाभाव विकसित होने पर ही आक्रमणभाव समाप्त होता है। सम्बद्धता के कारण व्यक्ति दूसरों में आत्मतः संक्रमित हो जाता है। यह संक्रमण का भाव ही आक्रमण का अन्त कर सकता है। किन्तु दुर्जनों द्वारा आक्रमण किये जाने पर प्रतिरक्षण की प्रवृत्ति को आक्रमण नहीं कहा जाता। दुर्भाव के विना आक्रमण नहीं होता। संवेदनशील भावनायें ही सेवापरायण होती हैं। सेवाभावी संवेदनशील मनुष्य आक्रामक नहीं होते। दूसरों के अधिकारक्षेत्र में उनकी अनुमति के विना अनधिकृत प्रवेश ही आक्रमण है। दुर्जनों द्वारा सेवा के स्थान पर शोषण की क्रिया ही अपनायी जाती है। दुष्ट सेवक नहीं, शोषक होते हैं; रक्षक नहीं, भक्षक होते हैं; पालक नहीं, घालक होते हैं। संवेदना ही मनुष्य को अत्यंतिम रूप से संक्रामक एवं सम्बद्ध बनाती है। इसके पश्चात् ही मनुष्यों में साहस का उदय होता है।*

❀❀❀

ख) साहसिकता का विकास *(Development of Courageousness)* **:-** *साथ होने के भाव को ही 'साहस' कहते हैं। साहसिकता के विना दूसरों से भय की अनुभूति समाप्त नहीं होती। भय की समाप्ति के लिए साहसभाव का विकास आवश्यक होता है। साहस के द्वारा ही सहजीविता उत्पन्न होती हे, सभ्यता का जागरण होता है, सामूहिकता एवं सामाजिकता प्रतिष्ठित होती है। साहसिकता ही भावनात्मक विकास का द्वितीय चरण है। साहसिकता के पाँच लक्षणों का परिचय निम्नलिखित है :–*

१) सहयोग का विकास *(Development of Togetherness)* **:-** *सहयोग ही साहस का प्रथम लक्षण है। किसी के साथ संयुक्त होने की भावना को ही 'सहयोग' कहते हैं। सहयोगभाव का विकास अनेक प्रकार के सद्कार्यों को करने में सफल होता है। सहयोग के विना कोई भी सहकार्य (Teamwork) संभव नहीं होता। सामूहिकता, सहजीविता, सामुदायिकता का उदय केवल सहयोगभाव के द्वारा ही संभव होता है।*

२) वरिष्ठता का विकास *(Development of Seniority)* **:-** *वरिष्ठता ही साहस का द्वितीय लक्षण है। भावनात्मक विकास के फलस्वरूप उत्पन्न होनेवाला साहस ही मनुष्यों को वरिष्ठता प्रदान करता है। प्रौढ़ता को 'वरिष्ठता' कहते हैं। बड़ों की भाँति दूसरों के लिए रक्षणभाव धारण*

करनेवाले ही 'वरिष्ठ' कहलाते हैं। वरिष्ठभाव वाले व्यक्तियों की उपस्थिति में सामान्यजन स्वयं को सुरक्षित अनुभव करते हैं। दुष्टों, दुर्जनों में वरिष्ठता के लक्षण नहीं पाये जाते। वे अपने कनिष्ठों का रक्षण नहीं करते। बल्कि उनके हितों को क्षति पहुँचाते हैं। दुष्ट लोग रक्षक नहीं, भक्षक सिद्ध होते हैं। किन्तु शिष्ट एवं सज्जन लोग दूसरों के हितों को हानि नहीं पहुँचाते।

***३) वीरता का विकास** (Development of Bravery) :- वीरता ही साहस का तृतीय लक्षण है। आक्रमणकारियों का सामना करने का साहस ही वीरता है। शूरता और वीरता में भेद है। आक्रमणकारी ही 'शूर' कहलाते हैं, रक्षणकारी ही 'वीर' कहलाते हैं। आक्रमणों के विरुद्ध प्रतिरक्षा का भाव धारण करनेवाले व्यक्ति ही वीर होते हैं। 'शूरता' दुर्वृत्ति है, किन्तु 'वीरता' सद्वृत्ति है। वीरभाव की प्राप्ति भावनात्मक विकास के द्वारा होती है। भयभीत लोग शूर होते हैं। शूर आक्रामक होते हैं। भय ही उन्हें आक्रमण के लिए प्रेरित करता है। निर्भय लोग वीर होते हैं। निर्भयता ही उन्हें प्रतिरक्षण के लिए प्रेरित करती है।*

***४) सहिष्णुता का विकास** (Development of Tolerance):- सहिष्णुता ही साहस का चतुर्थ लक्षण है। सहनशीलता को ही 'सहिष्णुता' कहते हैं। दूसरों को सहन करने की सामर्थ्य ही सहिष्णुता है। दूसरों के अस्तित्व को ज्यों का त्यों स्वीकार करके उनके साथ यथायोग्य न्यायोचित व्यवहार करते रहने की भावना को ही 'सहिष्णुता' के नाम से जाना जाता है।*

***५) समर्पण का विकास** (Development of Devotion) :- समर्पण ही साहस का पंचम लक्षण है। समर्पणभाव से युक्त मनुष्य ही सार्वजनिक हितों वाले सदुद्देश्यों के लिए अपने प्राणों की आहुति देने में समर्थ होते हैं। समर्पणभाव के विना प्राणोत्सर्ग करने की सामर्थ्य प्राप्त नहीं होती। किसी सदुद्देश्य की पूर्ति हेतु स्वयं की कुर्बानी, बलिदान, शहादत, उत्सर्ग जैसे महान् कर्म समर्पणभाव के ही प्रतिफलन हैं। सदुद्देश्य सदैव सर्वहितकारी होते हैं। अतः दुष्टों-दुर्जनों में यह सत्यात्मक समर्पणभाव नहीं होता। वे तो स्वार्थपूर्ति के लिए ही मरते-मिटते हैं। दुर्वृत्त लोग हठी व जिद्दी होते है। वे दम्भ के वशीभूत होकर आक्रामक हो जाते हैं। अतः उनमें सत्य के प्रति समर्पण के स्थान पर आक्रमण के लक्षण दिखाई देते हैं। वे सारी दुनिया की बलि स्वयं के लिए चाहते हैं। स्वयं को जगत्हितार्थ बलिदान करने में समर्थ नहीं होते।*

❁❁❁

***ग) श्रद्धालुता का विकास** (Development of Receptivity) :- प्रकृति ही श्रद्धा है। धारणाशक्ति को ही 'श्रद्धा' कहते हैं। स्वीकारभाव ही श्रद्धाभाव है। श्रद्धालुता का विकास भावनात्मक विकास का तृतीय चरण है। श्रद्धालुता के विकास के निम्नलिखित 5 लक्षण होते हैं :-*

***१) सद्व्रत का विकास** (Development of True Determination) :- व्रतशीलता ही श्रद्धालुता के विकास का प्रथम लक्षण है। सत्य बातों को वरण करने की सामर्थ्य को ही 'सद्व्रत' कहते हैं। किसी भी सत्यात्मक व न्यायसंगत नियम, नीति, निर्णय को धारण करने की सामर्थ्य केवल सद्व्रत के द्वारा ही प्राप्त होती है। हृदय में सद्व्रत के अभाव में दुर्व्रत प्रतिष्ठित हो जाता है। दुर्व्रत करनेवाले हठी व जिद्दी हो जाते हैं। दूषित उद्देश्य से किये जानेवाले व्रत ही दुर्व्रत होते हैं। इसके विपरीत सात्त्विक उद्देश्य से किये जाने वाले व्रत सद्व्रत होते हैं। सद्व्रत ही मानवीय स्वभाव को सात्त्विक बनाने में समर्थ है। अतः सद्व्रत का विकास सभी मनुष्यों के लिए आवश्यक होता है।*

२) सत्यानुशासन का विकास *(Development of True Discipline)* **:-** *अनुशासनशीलता ही श्रद्धालुता के विकास का द्वितीय लक्षण है। श्रद्धा के विना कोई व्यक्ति अनुशासित नहीं हो सकता। किसी व्यक्ति के हृदय में जिसके प्रति श्रद्धा होती है, वह उसी के द्वारा अनुशासित होता है। सद्व्रतवान् लोग ही सत्यानुशासित हो सकते हैं। व्रत के विना अनुशासन उत्पन्न नहीं हो सकता। सत्यात्मक नियमों, नीतियों, निर्णयों के अनुकूल आचार–व्यवहार को ही 'सत्यानुशासन' कहते हैं। सत्यानुशासित लोग ही सदाचार एवं सद्व्यवहार अपनाने में सफल होते हैं तथा 'सज्जन' कहलाते हैं। सत्य के विपरीत दूषित सिद्धान्तों के अनुकूल आचार–व्यवहार वाले व्यक्ति ही दुर्जन होते हैं। सत्यानुशासन के विना ही लोगों में दुर्जनता उत्पन्न होती है।*

३) कर्तव्यपरायणता का विकास *(Development of Dutifulness)* **:-** *कर्तव्यपरायणता ही श्रद्धालुता के विकास का तृतीय लक्षण है। श्रद्धाभाव के कारण ही कर्तव्य की अनुभूति होती है। भावनात्मक विकास के परिणामस्वरूप व्यक्तियों में कर्तव्य एवं उत्तरदायित्व के स्वीकारभाव की वृद्धि होती है, जो व्यक्ति को कर्तव्यपरायण बनाती है। श्रद्धा ही न्यायसंगत कर्तव्यों के पालन की सामर्थ्य प्रदान करती है।*

४) सत्यनिष्ठा का विकास *(Development of True Dedication)* **:-** *सत्यनिष्ठा ही श्रद्धालुता के विकास का चतुर्थ लक्षण है। वास्तविक श्रद्धावान् लोग सत्यनिष्ठ होते हैं। मानवी श्रद्धा का लक्ष्य तो केवल सत्य होता है। सत्य के विरुद्ध किसी बात पर श्रद्धा कभी किसी मनुष्य को सत्यनिष्ठ नहीं बना सकती, क्योंकि सत्य केवल एक है, अद्वितीय है, अद्वैत है। प्रबुद्ध व्यक्तियों में श्रद्धाभाव के विकास का प्रतिफलन सत्यनिष्ठा के रूप में स्वतः होने लगता है।*

५) धैर्यशीलता का विकास *(Development of Patience)* **:-** *धैर्यशीलता ही श्रद्धालुता के विकास का पंचम लक्षण है। श्रद्धाभाव के कारण ही धैर्यशीलता विकसित होती है। भावनात्मक विकास के परिणामस्वरूप श्रद्धालु व्यक्तियों में विचलन की प्रवृत्ति समाप्त हो जाती है। स्थिरता एवं दृढ़ता का विकास होता है, धैर्य की सामर्थ्य का उदय होता है। श्रद्धावान् लोग उद्विग्न नहीं होते, वे सदैव धैर्यशील होते हैं। श्रद्धा के विना धैर्य संभव नहीं होता।*

❁❁❁

घ) सत्वृत्ति का विकास *(Development of Good Tendency)* **:-** *इच्छा, चाहत, कामना, प्रेरणा को ही 'वृत्ति' कहते हैं। वृत्तियाँ गुणात्मक होती हैं। सद्वृत्तियाँ ही सद्गुण बनाती हैं। सद्वृत्तियों द्वारा प्रेरित होकर ही मनुष्य क्रियाशील होता है। सत्वृत्ति ही भावनात्मक विकास का चतुर्थ चरण है। दम्भ, द्वेष, ईर्ष्या, दस्युता, द्रोह आदि पंचदोषों या दुर्वृत्तियों को दूर करने के लिए इन पाँचों सत्वृत्तियों का विकास किया जाता है। पंचतत्त्वों की प्रेरणा से सत्प्रवृत्तियाँ भी 5 प्रकार की हो जाती हैं, जिनका परिचय निम्नलिखित है :–*

१) साहचर्य का विकास *(Development of Co-living)* **:-** *साहचर्य ही सत्वृत्ति का प्रथम लक्षण है। बन्धुता, सायुज्यजा एवं सहजीविता को ही 'साहचर्य' कहते हैं। साथ मिलकर चलने की प्रेरणा ही साहचर्य है। साहचर्य की प्रवृत्ति के द्वारा ही मनुष्यों के बीच सभ्यता का जन्म होता है। सामूहिकता एवं सहजीविता पनपती है। भावनात्मक विकास के कारण ही साहचर्य प्रवृत्त होता है। साथ–साथ कमाना, खाना, सोना, जागना, जीना ही साहचर्य का लक्षण है।*

२) मैत्री का विकास *(Development of Friendship)* **:-** *मैत्री ही सत्‌वृत्ति का द्वितीय लक्षण है। सद्‌वृत्ति ही मैत्रीभाव का विकास करती है। दूसरों के साथ मेल को ही मैत्री कहते हैं। मैत्री के विना दूसरों के साथ मिलजुलकर रहना संभव नहीं होता। दूसरों को अपना मित्र स्वीकार करना भावनात्मक विकास के विना संभव नहीं होता। निःस्वार्थ मैत्री एक उत्कृष्ट सद्‌वृत्ति है।*

३) प्रशंसा का विकास *(Development of Praise)* **:-** *प्रशंसा ही सत्‌वृत्ति का तृतीय लक्षण है। दूसरों के श्रेष्ठ गुणों, कर्मों, उपलब्धियों की प्रशंसा करने की सद्‌वृत्ति भावनात्मक विकास का ही प्रतिफलन है। भावनाशील व्यक्ति ही दूसरों की शुभता के प्रशंसक होते हैं। शुभता, श्रेष्ठता, उत्कृष्टता, सुन्दरता, सात्त्विकता के प्रति प्रशंसाभाव धारण करनेवाले लोग भावनाशील होते हैं। किन्तु दुर्वृत्त लोग दोषों एवं त्रुटियों को ही गुण बताकर मिथ्या व्यवहार करते हैं, जो केवल कूटनीति है और दूसरों को धोखा देने के लिए अपनायी जाती है।*

४) सहायता का विकास *(Development of Helpfulness)* **:-** *सहायता ही सत्‌वृत्ति का चतुर्थ लक्षण है। साहसी व्यक्ति ही दूसरों की सहायता करने में समर्थ होते हैं। संकटकाल में दूसरों की सहायता करने की भावना ही साहसिकता है। स्वयं को संकट में डालकर दूसरों को संकट से बचाने की चेष्टा ही सहायता के रूप में प्रत्यक्ष होती है। भावनात्मक विकास का यह उच्च लक्षण है।*

५) सामंजस्य का विकास *(Development of Adjustment)* **:-** *सामंजस्य ही सत्‌वृत्ति का पंचम लक्षण है। सुव्यवस्था ही सामंजस्य है। यथायोग्य स्थान, अवसर, साधन आदि की सुलभता सम्बन्धी व्यवस्था को ही 'सामंजस्य' कहते हैं। पात्रतानुसार पदनियुक्ति की व्यवस्था के अनुसार सहज स्वीकारभाव को ही सामंजस्य का भाव कहा जा सकता है। भावनात्मक विकास की यह सर्वोच्च दशा है, जिसके द्वारा सम्पूर्ण संसार सामंजस्यपूर्ण हो सकता है। सामंजस्य के विना सुखशान्ति प्रतिष्ठित नहीं हो सकती।*

❀❀❀

अध्याय : ४

चेतनात्मक क्षमता विकास

(Spiritual Capability Development)

चिद्विवेक, चिद्स्वरूप, चिद्बिन्दु, चिद्स्तर इत्यादि के रूप में चिद्चतुष्टय के विकास की प्रक्रिया

(Development Process of Spiritual Quad in the form of Conscience, Expansion, Meditation Point, Conscious Level)

चेतनात्मक क्षमता विकास
(Spiritual Capability Development)

चेतना का परिचय (Introduction of Conscious) :- *आत्मा ही चेतना है। आत्मा को ही दृष्टा, साक्षी, कर्ता, भोक्ता इत्यादि अनेक प्रकार के नामों से जाना जाता है। सर्वव्यापी 'स्थान' को ही 'आत्मा' कहते हैं, जो आधारतत्त्व है। सब कुछ उसी से उत्पन्न होकर उसी में प्रतिष्ठित है। वही आदि है, वही इति है। वही प्रथम है, और वही अन्तिम है। वही मध्य में भी प्रतिष्ठित है, क्योंकि वह सर्वव्यापी है। जो तत्त्व सर्वव्यापी होता है। वह इस जगत् में अनेक नहीं सिद्ध हो सकता और जो एकाकी है, वह अनिवार्यतः सर्वव्यापी होगा। एकाकी सदैव अद्वितीय होता है, उसमें द्वैत असंभव है। आत्मा की सर्वव्यापकता के कारण आत्मा की एकता स्वतः प्रमाणित है। आत्मा की एकता के कारण आत्मा की सर्वव्यापकता स्वतः सिद्ध है। उससे उत्पन्न होनेवाली वस्तुयें अनेक हो सकती हैं। किन्तु उन उत्पन्न होने वाली वस्तुओं में भी आत्मा की एकता ही प्रमाणित होगी। खण्ड-खण्ड में आत्मा की अखण्डता सुनिश्चित है। आत्मा में पुरुष और स्त्री का भेद भी नहीं हो सकता। वह स्वयं ही पुरुष है। वह स्वयं ही स्त्री है। वह स्वयं ही मध्य में भी स्थित है। आत्मा ही सचेतन होकर सभी प्राणियों में दृष्टा, साक्षी, कर्ता, भोक्ता, मन्ता आदि के रूप में विद्यमान है। आत्मा सर्वव्यापी है, चाहे वह अचेतन रूप से हो अथवा सचेतन रूप से। चेतना की विकासयात्रा अचेतन से सचेतन की ओर गतिमान है। जड़ता से जीवन्तता की ओर प्रवाहमान यात्रा ही संसार है। यद्यपि मनुष्य अपनी उन्नति-अवनति के लिए स्वतः उत्तरदायी है।*

चेतना के चार आयामों का परिचय (Introduction of Four Dimensions of Conscious) :- *आत्मचेतना चार आयामी है। प्रत्येक आयाम का एक घटक है। चारों घटकों का विकास ही चेतनात्मक विकास कहलाता है। इन चारों घटकों के नाम हैं- चिद्विवेक, चिद्स्वरूप, चिद्बिन्दु, चिद्स्तर। चेतना के इन चारों घटकों को क्रमशः विकसित करने की आवश्यकता होती है। वृत्तियों का साक्षी ही 'विवेक' है। इच्छाओं का ईश्वर ही 'विवेक' है। दृश्यों का दृष्टा ही 'विवेक' है। मनुष्यों में वह आत्मा ही 'विवेक' के रूप में प्रतिष्ठित होती है। वह आत्मा ही विस्तार के रूप में प्रतिष्ठित होती है। वह आत्मा ही चिद्बिन्दु के रूप में प्रतिष्ठित होती है। वह आत्मा ही जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति, तुरीय, तुरीयातीत इत्यादि चिद्स्तर के रूप में प्रतिष्ठित होती है।*

चिद्चतुष्टय का विकास (Development of Spiritual Quad) :- *आत्मा ही गुणों के प्रभाव से सचेतन एवं अचेतन स्वरूप धारण करती है। सत्त्वगुण के प्रभाव से वह सचेतन होती है। तमोगुण से ग्रस्त होकर वही अचेतन हो जाती है। सत्त्वगुण की वृद्धि और ह्रास द्वारा ही चेतना में वृद्धि और ह्रास होता है। आत्मा में ही चिद्शक्ति का जागरण होता है। चिद्शक्ति चार आयामी होने के कारण 'चिद्चतुष्टय' के नाम से जानी जाती है। चिद्चतुष्टय का विकास ही चेतनात्मक विकास कहलाता है। चिद्विवेक, चिद्स्वरूप, चिद्बिन्दु, चिद्स्तर इत्यादि के रूप में स्थित आत्मचतुष्टय ही चिद्चतुष्टय है। इन चारों की विकासयात्रा क्रमबद्ध है। आत्मा में प्रथमतः विवेकशीलता का विकास होता है। विवेक के प्रभाव से ही आत्मविस्तार की प्रक्रिया विकसित होती है। तत्पश्चात् ही चिद्बिन्दु का नियन्त्रण और चैतन्य के स्तरों का उदय होता है।*

चेतनात्मक विकास का महत्त्व *(Importance of Spiritual Development) :-* *मानवजीवन एक क्रमबद्ध विकासयात्रा है, जो क्रमशः शारीरिक, मानसिक, भावनात्मक, चेतनात्मक विकारा के रूप में क्रियाशील होती है। चेतनात्मक विकारा तक पहुँचकर ही मानवजीवन पूर्णता को प्राप्त होता है। पूर्णता पर ही मनुष्य को तृप्ति, तुष्टि, शान्ति, स्वस्ति प्राप्त होती है। अतः चेतनात्मक विकास मानवजीवन के लिए अत्यन्तिम रूप से महत्त्वपूर्ण है। यद्यपि चेतनात्मक विकास की उपलब्धि के लिए प्रथम तीनों आयामों का विकास होना आवश्यक है। तन, मन, प्राण, आत्मा क्रमबद्ध हैं। क्रमशः विकसित होते हुए ही मनुष्यों को आत्मलाभ होता है।*

चेतनात्मक विकास के लाभ *(Advantages of Spiritual Development) :-* *चेतनात्मक विकास से ही मनुष्य में ज्ञाननेत्र का आविष्कार होता है, जिसमें नेतृत्व की सामर्थ्य होती है। लोकनेतृत्व हेतु प्रशस्त पात्रता में चेतनात्मक विकास अनिवार्य रूप से प्रतिष्ठित है। किसी भी समाज, राष्ट्र अथवा लोकजीवन का नेतृत्व करने के लिए चिद्चतुष्टय के विकास की आवश्यकता होती है। विवेकशीलता, व्यापकता, ध्यानशीलता एवं चैतन्यता के उच्च स्तरों अथवा आयामों का जागरण ही नेतृत्व की सामर्थ्य को जन्म देता है। नेतृत्वकर्म, नेतृत्वपद एवं नेतृत्वसम्पदा पर स्वामित्व की उपलब्धि चेतनात्मक विकास द्वारा ही संभव है। चेतनात्मक विकास के विना मनुष्य को पुरुषार्थचतुष्टय में वर्णित मोक्षदशा की प्राप्ति भी नहीं हो सकती। मोक्षलाभ के लिए आत्मचेतना का विकास अनिवार्य है।*

चेतनात्मक विकास के उपाय *(Methods of Spiritual Development) :-* *चेतनात्मक विकास का अभिप्राय चिद्विवेक, चिद्स्वरूप, चिद्बिन्दु, चिद्स्तर इत्यादि चार आत्मिक घटकों के विकास से है। चेतनात्मक विकास के लिए समुचित सत्योपासना एवं सत्साधना की आवश्यकता है। सत्योपलब्धि हेतु सत्य की उपासना एवं साधना के द्वारा चेतनात्मक विकास का लक्ष्य प्राप्त किया जा सकता है। चेतनात्मक विकास के इन दोनों उपायों का परिचय निम्नलिखित है :–*

१) सत्योपासना *(Worship of Truth) :-* *सत्य को जानना, मानना और जीना ही सत्योपासना है। सम्पूर्ण जगत् का आधार सर्वव्यापी आत्मा है। सब कुछ उसी से उत्पन्न होकर उसी में प्रतिष्ठित रहता है। वह एक है, अद्वितीय है, अखण्ड है, अनादि है, अनन्त है, असीम है, अमाप्य है, अबध्य है।* ***एकाकी होने के कारण वह सर्वव्यापी है तथा सर्वव्यापी होने के कारण वह एकाकी है।*** *वह एक ही अनेक होकर जगत्भाव से प्रतिष्ठित है। जगत् की इस अनेकता में एकता का दर्शन ही अद्वैतदर्शन कहलाता है। अद्वैत ही सत्य है। आत्मा के इस अद्वैत अस्तित्व को जानकर जो उसी में प्रतिष्ठित होने की चेष्टा करता है, उसे ही 'सत्योपासना' कहते हैं। यह आत्मा समस्त आवरणों से परे और मुक्त होती है। यह आत्मा ही दृष्टा, साक्षी एवं विवेक के नाम से जानी जाती है। समस्त इच्छाओं, आकांक्षाओं, चाहतों से परे स्थित शुद्ध आत्मा ही निष्पक्ष न्यायकारी विवेक की भूमिका निभाती है। इसी सत्यात्मा की उपासना का सतत अभ्यास ही 'सत्योपासना' है, जिसके द्वारा आत्मचेतना का विकास होता है। सत्योपासना के निम्नलिखित दो उपाय हैं :–*

क) ज्ञानोपासना *(True Wisdom Acquirement) :-* *ज्ञान से ही सत्–असत् को देखने की सामर्थ्य वाले चिद्विवेक का उदय होता है। सत्ज्ञान के उपार्जन में संलग्न रहना ही ज्ञानोपाासना है। सत्ज्ञान की वृद्धि के द्वारा मनुष्य में आत्मज्ञता, सर्वसापेक्षता, समदर्शिता, निष्पक्षता एवं*

स्वस्थता के लक्षण विकसित होते हैं। सत्ज्ञान की प्राप्ति के लिए अध्ययन (Study), श्रवण (Listeing), चर्चा (Discussion) एवं चिन्तन (Thinking) इत्यादि चार उपायों की आवश्यकता होती है। दार्शनिक सत्ग्रन्थों का अध्ययन ही ज्ञानोपासना का प्रथम उपाय है। तत्पश्चात् दूसरों के दार्शनिक प्रवचनों, उपदेशों को सुनना एवं उनसे चर्चा करना तथा स्वयं भी सत्य के बोध की वृद्धि के लिए चिन्तन–मनन का प्रयास करना ही ज्ञानोपासना का मार्ग है। सत्य को जाने विना सत्य को माना नहीं जा सकता। सत्य को माने विना सत्य को जिया नहीं जा सकता। अतः सत्ज्ञान की उपासना महत्त्वपूर्ण है।

***ख) आत्मोपासना** (True Virtue Acquirement) :- आत्मज्ञान के प्रभाव से आत्मा की सर्वव्यापकता का बोध हो जाता है, किन्तु आत्मा की व्यापकता का स्तर क्रमशः गुणात्मक उत्थान के क्रम से विकसित होता है। सकारात्मक आत्मविस्तार की प्रक्रिया के पाँच स्तर होते हैं– व्यक्तिव्यापी, परिवारव्यापी, समाजव्यापी, राष्ट्रव्यापी, समष्टिव्यापी। आत्मस्वरूप का विस्तारक्रम व्यष्टि से समष्टि तक विकसित होते हुए जा पहुँचता है। इस प्रक्रिया को ही आत्मोपासना कहते हैं। सत्ज्ञान के अनुकूल आचार–व्यवहार अपनाने पर सत्गुणों का विकास होता है। जैसा कर्म, वैसा गुण बनता है। कर्माभ्यास द्वारा ही गुणों का सृजन होता है। जैसे–जैसे सद्गुणों की वृद्धि होती है, मनुष्य में आत्मविस्तार की प्रवृत्ति उत्पन्न होती है, जिससे मनुष्य में क्रमशः व्यक्तिव्यापी, परिवारव्यापी, समाजव्यापी, राष्ट्रव्यापी, समष्टिव्यापी स्वरूप का उदय होता है। व्यापकता की वृद्धि हेतु व्यक्ति के अपने कर्म, अपने धन, अपनी सम्पत्ति, अपनी उपलब्धियों, अपने गुणों, अपने कौशलों के उपयोग को व्यापक बनाया जाता है। विस्तारशीलता ही व्यापकता है।*

***२) चिद्साधना** (Conscious Control) :- चिद्बिन्दु के नियमन एवं चिद्स्तर के उत्थान हेतु चिद्साधना आवश्यक होती है। ध्यानाभ्यास से चिद्बिन्दु नियन्त्रित होता है एवं योगाभ्यास से चिद्स्तर उन्नत होता है। ध्यान एवं चैतन्य के विकास हेतु सत्साधना की आवश्यकता होती है। सत्य की वृद्धि से ही चैतन्य की वृद्धि होती है। जो सत् है, वही चिद् है। जितना सत् है, उतना ही चिद् होता है। चेतना की सघनता का संवर्धन ही ध्यान की साधना है। चिद्बिन्दु की चंचलता से एकाग्रता, स्थिरता, शून्यता, समाधि तक की यात्रा हेतु ध्यानाभ्यास की आवश्यकता होती है। इसीप्रकार से जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति, तुरीय एवं तुरीयातीत इत्यादि के रूप में चैतन्य के क्रमशः 5 स्तरों की उपलब्धि हेतु योगाभ्यास की आवश्यकता होती है। चिद्साधना के निम्नलिखित दो उपाय हैं :–*

***क) ध्यानसाधना** (Meditation Practice) :- ध्यान का सम्बन्ध 'चिद्बिन्दु' के नियन्त्रण से है। सभी मनुष्यों में आत्मचेतना का एक गतिशील बिन्दु विद्यमान रहता है। आत्मचेतना के इस बिन्दु को ही 'चिद्बिन्दु' कहते हैं। यह चिद्बिन्दु सचेतन होने के कारण चंचल होता है। यह विद्युतगति से सर्वगामी होता है। क्षणभर में ही यह कहीं से कहीं जा पहुँचता है। बल्कि यह तो समयातीत भी है। इसे कहीं भी आने–जाने में किसी समयावधि की आवश्यकता नहीं होती। सम्पूर्ण शरीर के भीतर–बाहर यह सर्वत्र निरन्तर गतिशील रहता है। निरन्तर सक्रिय बने रहना ही इसका स्वभाव है। चिद्बिन्दु की चंचलता को ध्यानाभ्यास द्वारा एकाग्रता, स्थिरता, शून्यता, समाधि की दशा तक पहुँचाया जा सकता है। चिद्बिन्दु के नियन्त्रण की चेष्टा को ही 'ध्यानभ्यास' कहते हैं। ध्यानसाधना का अभिप्राय किसी ध्येय अथवा लक्ष्यविशेष पर अपने चिद्बिन्दु को निरन्तर लगाए रखने के अभ्यास से है। चेतना की एकाग्रता आदि पाँचों चरणों का अभ्यास किसी भी स्वैच्छिक विधि से लोगों द्वारा किया जा सकता है।*

ख) योगसाधना (Yoga Practice) :- *चेतना के स्तरों को ही 'चिद्स्तर' कहते हैं। मानवीय चेतना पंचस्तरीय है– जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति, तुरीय, तुरीयातीत। इनमें से जाग्रतचेतना ऐन्द्रिक है, स्वप्नचेतना मानसिक है, सुषुप्तिचेतना प्राणिक है, तुरीयचेतना स्वात्मिक है, तुरीयातीत चेतना सर्वात्मिक है। चेतना के इन पाँचों स्तरों का व्यावहारिक परिचय भी आवश्यक है– जाग्रत बहिष्प्राज्ञ है, स्वप्न अन्तष्प्राज्ञ है, सुषुप्ति प्राज्ञ है, तुरीय महाप्राज्ञ है, तुरीयातीत परमप्राज्ञ है। जाग्रतस्तर की बहिष्प्राज्ञ चेतना मनुष्य की सामान्य दशा है। सचेतन स्वप्न की उपलब्धि के लिए मनुष्य को ध्यानाभ्यास की आवश्यकता होती है। ध्यानाभ्यास की साधना द्वारा स्वप्नस्तर की अन्तष्प्राज्ञ चेतना प्राप्त करके सचेतन स्वप्न देखे जा सकते हैं। किन्तु सुषुप्तिस्तर की प्राज्ञस्तर चेतना प्राप्त करने के लिए योगाभ्यास की आवश्यकता होती है। प्राणऊर्जा का ऊर्ध्वगमन करके भ्रूमध्य मस्तक पर धारण करने से योगावस्था प्राप्त होती है। यह प्राणयोग सचेतन सुषुप्ति को उपलब्ध कराता है। तुरीयस्तर ज्योतिष्मान् है, जो योगधारणा की प्रबलता सिद्ध होने पर शीर्षप्रदेश में महासूर्य को जन्म देती है। तुरीयातीत स्तर की चेतना परिनिर्वाणात्मक है, निवृत्त, शान्त है। जब प्राणऊर्जा मूलाधारकेन्द्र में होती है, तब जाग्रतस्तर में चेतना स्थित रहती है। जब प्राणऊर्जा नाभिकेन्द्र में होती है, तब स्वप्नस्तर में चेतना स्थित रहती है। जब प्राणऊर्जा हृदयकेन्द्र में होती है, तब सुषुप्तिस्तर में चेतना स्थित रहती है। जब प्राणऊर्जा आज्ञाकेन्द्र में होती है, तब तुरीयस्तर में चेतना स्थित रहती है। जब प्राणऊर्जा सहस्रारकेन्द्र में होती है, तब तुरीयातीतस्तर में चेतना स्थित रहती है। चेतना के इन स्तरों में क्रमोत्थान आध्यात्मिक योगविज्ञान के द्वारा उपलब्ध किया जा सकता है। इसे उपलब्ध करने की प्रक्रिया को ही योगाभ्यास अथवा योगसाधना कहते हैं। यह प्राणविज्ञान का विषय है, जो प्राणयज्ञ और प्राणयोग के रहस्यों का प्रतिपादन करता है। ऊर्जा को एकत्रित करके भ्रूमध्य मस्तक पर धारण करने का अभ्यास किसी भी विधि से स्वेच्छापूर्वक किया जा सकता है। प्राणोत्थान का प्रयास ही योगाभ्यास कहलाता है। प्राणऊर्जा जैसे–जैसे ऊर्ध्वगमन करती है, वैसे–वैसे चेतना के उच्चतर आयामों एवं स्तरों की उपलब्धि होती है। एक सामान्य विश्लेषण के अनुसार प्राणवायु (श्वास) जब इड़ानाड़ी (बाँयी नासिका) में प्रतिष्ठित रहती है, तब चेतना का जाग्रतस्तर होता है। प्राणवायु (श्वास) जब पिंगलानाड़ी (दाँयी नासिका) में प्रतिष्ठित रहती है, तब चेतना का स्वप्नस्तर होता है। प्राणवायु (श्वास) जब सुषुम्नानाड़ी (संयुक्त नासिका) में प्रतिष्ठित रहती है, तब चेतना का सुषुप्तिस्तर होता है। प्राणवायु (श्वास) जब स्थिर हो जाती है, तब चेतना का तुरीयस्तर होता है। प्राणवायु (श्वास) जब निवृत्त हो जाती है, तब चेतना का तुरीयातीतस्तर होता है।*

चेतनात्मक विकास के चार घटक (Four Components of Spiritual Development) :- *चेतनात्मक क्षमता का विकास चिद्विवेक, चिद्स्वरूप, चिद्बिन्दु एवं चिद्स्तर इत्यादि चार घटकों के विकास पर निर्भर करता है। इन चारों घटकों के विकास का परिचय निम्नलिखित है :–*

क) चिद्विवेक का विकास (Development of Conscience) :- *आत्मचेतना प्रथमतः विवेक के रूप में ही कार्य करती है। विविक्त करके देखने की सामर्थ्य को ही 'विवेक' कहते हैं। विश्लेषण की सामर्थ्य ही विवेक है। दुग्ध और जल को विश्लेषण करके दोनों के स्वरूपभेद का ज्ञान ही विवेक है। विवेकशीलता के निम्नलिखित पाँच लक्षण होते हैं :–*

१) आत्मज्ञता का विकास (Development of Wisdom of Soul) :- आत्मज्ञान से ही विवेक का उदय होता है। आत्मा को जाने विना कोई व्यक्ति विवेकशील नहीं हो सकता, क्योंकि स्वयं आत्मा ही विवेक है। आत्मज्ञान से ही आत्मोपलब्धि होती है। आत्मा को जाने विना आत्मा नहीं हुआ जा सकता। उक्ति प्रसिद्ध है–**'तदपश्यत् तदभवत् तदासीत्।'** उसे देखा, वही हो गया, वही था। स्वयं के यथार्थ अस्तित्व को ही 'आत्मा' कहते हैं। प्रत्येक देहधारी का मौलिक अस्तित्व ही आत्मा के नाम से जाना जाता है। स्वाध्याय, सत्श्रवण, सत्चर्चा, सत्चिन्तन ही आत्मज्ञान के उपाय हैं। इन चारों उपायों के द्वारा आत्मा को जाना जा सकता है। आत्मज्ञता का विकास ही आत्मचेतना के विकास का प्रथम लक्षण है। आत्मज्ञता से ही विवेकशीलता का उदय होता है। यह विवेक ही विक्षेप से मुक्ति प्रदान करता है। विवेकहीनता ही विक्षिप्तता का मूल कारण है। आदतें जब आत्मा को आच्छादित कर लेती हैं, तभी व्यक्ति विक्षिप्त होता है, किन्तु आदतें जब आत्मा के अधीन होती हैं, तभी व्यक्ति मुक्त कहलाता है। मुक्त व्यक्ति ही निष्पक्ष न्यायकारी होता है। तन से ऊपर मन है, मन से ऊपर प्राण है, प्राण से ऊपर आत्मा है। आत्मा ही इन तीनों का साक्षी, दृष्टा, स्वामी और ईश्वर है। तन, मन, प्राण के स्वामी को ही आत्मा कहते हैं, जो इन तीनों का संचालन करता है। इस आत्मा का बोध ही आत्मज्ञान है और इस आत्मज्ञान की दशा ही आत्मज्ञता है।

२) सर्वसापेक्षता का विकास (Development of All-relativity) :- जगत्विस्तार अनेक इकाईयों का समुच्चय है। सामान्य दृष्टि से संसार भेदपूर्ण है। संसार यह–वह, मैं–तू, स्त्री–पुरुष, स्व–पर इत्यादि अनेक प्रकार के द्वन्द्वों से युक्त है। सारा जगत् खण्ड–खण्ड है। किन्तु दार्शनिक दृष्टि से देखने पर सब कुछ एक–दूसरे से अन्तर्सम्बद्ध है। एक इकाई अन्य समस्त इकाईयों से अनिवार्यतः संयुक्त है। वास्तव में यह संसार एक अद्भुत सहअस्तित्व है। अतः सबसे स्वयं को अन्तर्सम्बद्ध अनुभव करने की दशा को ही 'सर्वसापेक्षता' कहते हैं। सत्ज्ञान के प्रभाव से ही इस सर्वसापेक्षता का विकास होता है। आधुनिक भौतिक विज्ञान की 'थ्योरी आफ रिलेटिविटी' का बोध होने पर मनुष्यों में सर्वसापेक्षता उत्पन्न हो सकती है। ऐसी दशा में मनुष्य सभी प्राणियों के लिए समुचित रुप से हितचिन्तक हो जाता है। सबके हित को स्वीकार करनेवाला व्यक्ति ही सर्वसापेक्ष कहलाता है। सर्वसापेक्ष व्यक्ति किसी के हितों के विरुद्ध नहीं जा सकता। वह न्यायपूर्वक प्रत्येक इकाई के समुचित हितों का प्रशंसक होता है। सर्वसापेक्षता का विकास ही आत्मचेतना के विकास का द्वितीय लक्षण है। अनेकता में एकता के दर्शन से ही सर्वसापेक्ष आत्मा का उदय होता है। विवेकशील हुए विना सर्वसापेक्ष, समदर्शी एवं निष्पक्ष नहीं हुआ जा सकता।

३) समदर्शिता का विकास (Development of Equanimity) :- आत्मा की सर्वव्यापकता का ज्ञान ही मनुष्य को समदर्शी बनाता है। आत्मा वास्तव में सर्वात्मा है। अतः सर्वात्मदर्शिता को ही समदर्शिता कहते हैं। एक ही आत्मा सम्पूर्ण विश्व में सर्वत्र समान रुप से व्याप्त है। इसे ही **'आत्मा की सर्वव्यापकता का ज्ञान'** कहते हैं। प्रत्येक इकाई के भीतर एवं बाहर सर्वत्र समान रुप से आत्मतत्त्व की अखण्ड व्यापकता का बोध ही मनुष्य को समदर्शिता प्रदान करता है। समदर्शी व्यक्ति समस्त भौतिक शरीरों की स्थूल दृष्टि को पार करके एक ही सर्वव्यापी अखण्ड आत्मा को देखनेवाली परम सूक्ष्म दृष्टि को उपलब्ध हो जाता है। ज्ञानी ही समदर्शी होता है–**'पण्डिताः समदर्शिनः।'** समदर्शी को ही अखण्डदर्शी अथवा अद्वैतदर्शी भी कहते हैं।

समदर्शी व्यक्तियों में मैं–तू के संघर्ष समाप्त हो जाते हैं। समदर्शिता के कारण ही सब प्रकार के द्वन्द्वों, भेदों के बीच पारस्परिक संघर्ष समाप्त हो जाते हैं। स्वार्थ–परार्थ, स्वदेश–परदेश जैसी द्वैतदशा शेष नहीं रह जाती है। ज्ञानी का 'स्व' परिवर्तित होकर 'सर्व' हो जाता है। ज्ञानी का 'स्वत्व' परिवर्तित होकर 'सर्वत्व' हो जाता है। ज्ञानी की 'स्वात्मा' परिवर्तित होकर 'सर्वात्मा' हो जाती है। ज्ञानी की 'संकीर्णता' परिवर्तित होकर 'सर्वव्यापकता' हो जाती है। ज्ञानी का संकुचित 'अहं' परिवर्तित होकर सर्वव्यापी 'ब्रह्म' हो जाता है। आत्मा को समान रूप से सर्वत्र स्थित देखते हुए ज्ञानी समदर्शी हो जाता है। समदर्शिता का विकास ही आत्मचेतना के विकास का तृतीय लक्षण है।

***४) निष्पक्षता का विकास** (Development of Impartiality) :-* *संसार अनेक इकाईयों का विस्तार है। संसार के सभी व्यक्ति एक साथ और एक समान ज्ञानवान् नहीं हो पाते, क्योंकि प्रत्येक प्राणी की अपनी–अपनी विकासयात्रायें हैं। यद्यपि लक्ष्य अथवा परिणति सबकी एक है। द्वैत, द्वन्द्व, भेद, खण्ड, आकार, प्रकार इस संसार में सदैव विद्यमान रहेंगे। इनमें वर्गभेद, जातिभेद, गुणभेद, वर्णभेद, रंगभेद, रूपभेद, आकारभेद, क्षेत्रभेद, समूहभेद, समुदायभेद, सम्प्रदायभेद सदैव विद्यमान रहेंगे, किन्तु इन भेदों के बीच में पारस्परिक संघर्ष उत्पन्न न होने पाये, इसके लिए निष्पक्ष न्याय की आवश्यकता होती है। आत्मस्थ व्यक्ति ही निष्पक्ष न्यायकारी होता है, क्योंकि आत्मा अभेद है, अखण्ड है, अद्वैत है। मनुष्यों में मान्यता–यथार्थ, आवरण–आत्मा, इच्छा–ईश्वर, वृत्ति–विज्ञान, गुण–ज्ञान, विक्षेप–विवेक, प्रकृति–परमात्मा, माया–ब्रह्म, भेद–अभेद, परिवर्तनशील–स्थिर इत्यादि दोनों बातें संयुक्त रूप से स्थित हैं। आवरण पर आत्मा का शासन ही आत्मा की स्वतन्त्रता, स्वस्थता, स्वराज्यता, स्वाधीनता, मुक्ति, मोक्ष की दशा है। किन्तु जब तक आत्मा पर आवरण का शासन है, तब तक आत्मा आवरण के अधीन रहती है और स्वतन्त्र, स्वच्छ, शुद्ध, निष्पक्ष निर्णय नहीं कर पाती। स्वतन्त्र चेतना ही निष्पक्ष न्यायकारी होती है। स्वाधीन आत्मा ही राग–द्वेष से मुक्त होकर शुद्ध निष्पक्ष निर्णय देकर न्याय करने में समर्थ होती है। पक्ष–विपक्ष के द्वन्द्व से मुक्त होकर सही निर्णय की दशा को ही निष्पक्षता कहते हैं। निष्पक्षता का विकास ही आत्मचेतना के विकास का चतुर्थ लक्षण है।*

***५) स्वस्थता का विकास** (Development of Healthiness) :-* *स्वयं में स्थित होने की दशा ही स्वास्थ्य है। 'स्वास्थ्य' शब्द को 'रोग' का विलोम कहा जाता है। रुग्ण का अभिप्राय लिप्त होने से है। बन्धनग्रस्त ही 'रुग्ण' कहलाता है। बँधा हुआ, विवश, मजबूर ही रुग्ण होता है। आत्मस्थ व्यक्ति को ही 'स्वस्थ' कहते हैं। स्वस्थ को ही स्थितप्रज्ञ भी कहा जाता है। प्रसिद्ध है–**'आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते।'** जब कोई मनुष्य स्थूल, सूक्ष्म, कारण आदि के प्रभावों से मुक्त होकर स्वयं से स्वयं में संतुष्ट होता है, तब उसे स्वस्थ अथवा स्थितप्रज्ञ कहते हैं। 'स्व' जब सर्वव्यापी होकर अपने शुद्ध आत्मिक अस्तित्व को प्राप्त होता है, तब वह 'स्वस्थ' कहलाता है। स्वास्थ्योपलब्धि इस संसार में मनुष्यों के आत्मविवेक की सर्वोच्च उपलब्धि है। यह विवेकशीलता का शिखर है। स्वस्थ व्यक्ति ही स्वाधीन होता है। वह अपने सुख, सुरक्षा, सम्मान इत्यादि के लिए स्वावलम्बी होता है। उसे बाहर से किसी सुख, सुरक्षा, सम्मान और उत्थान के लिए किसी भी प्रकार की सहायता ही अपेक्षा नहीं रह जाती। स्वस्थता का विकास ही आत्मचेतना के विकास का पंचम लक्षण है।*

❀❀❀

***ञ) चिद्स्वरूप का विकास** (Development of Conscious Expansion) :- आकार अथवा विस्तार को ही स्वरूप कहते हैं। व्यापकता को ही 'विस्तारशीलता' कहते हैं। आत्मचेतना सत्ज्ञान के प्रभाव से विस्तारशील हो जाती है। संकीर्ण स्वरूप व्यापक होने लगता है। यह विस्तारशीलता क्रमशः व्यापक होते हुए 5 स्तरों को प्राप्त होती है। तदनुसार विस्तारशीलता के निम्नलिखित पाँच लक्षण होते हैं :–*

***१) व्यक्तिव्यापी स्वरूप का विकास** (Development of Personwide Expansion) :- आत्मज्ञान का स्तर यदि व्यक्तिवादी हो, तो आत्मस्वरूप व्यक्तिव्यापी होता है। कोई व्यक्ति जब व्यक्तिगत शरीर की सीमाओं तक ही अपनी आत्मा को व्यापक जानता है, देखता है, तब उसका स्वरूप 'व्यक्तिव्यापी' कहलाता है। व्यक्तिव्यापी मनुष्य केवल अपने शारीरिक व्यक्तित्व तक ही अपना स्वरूप मानता है और उसी के हितों की सिद्धि के लिए निरन्तर संलग्न रहता है। अपनी शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति ही उसका लक्ष्य होता है। ऐसा व्यक्ति शरीरवादी ही होता है। शरीर की मृत्यु को ही वह अपनी मृत्यु मानता है। शरीर में जीवित रहने को ही वह अपना जीवन मानता है। शरीर की सीमायें ही उसकी आत्मचेतना की सीमायें हो जाती हैं। शारीरिक स्वास्थ्यों की पूर्ति ही उसके जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य होता है। जब किसी व्यक्ति के संसाधनों, धनसम्पदाओं, कर्मों, फलों एवं उपलब्धियों का उपयोग किसी के व्यक्तिगत शरीर तक ही सीमित रहता है, तब इसे व्यक्तिव्यापी आत्मिक स्वरूप का लक्षण माना जाता है।*

***२) परिवारव्यापी स्वरूप का विकास** (Development of Familywide Expansion) :- आत्मा के परिवारव्यापी स्वरूप का विकास ही आत्मविस्तार का द्वितीय चरण है। अपने शारीरिक व्यक्तित्व की सीमाओं का उल्लंघन करके जब कोई मनुष्य अपने परिवार तक स्वयं को व्यापक जानता, मानता और जीता है, वह परिवारव्यापी कहलाता है। परिवार का अभिप्राय पति–पत्नी एवं उनकी अवयस्क सन्तानों और आश्रितों से है। जिसके संसाधनों, सम्पदाओं, कर्मों, फलों एवं उपलब्धियों का उपयोग उसके परिवार की सीमाओं तक ही व्यापक रहता है, वह मनुष्य 'परिवारव्यापी' आत्मिक अस्तित्व वाला होता है। जिसकी आर्थिक, सांस्कारिक, व्यावहारिक एवं आध्यात्मिक गतिविधियाँ उसके परिवार तक व्यापक रहती हैं, वह मनुष्य परिवारव्यापी आत्मिक स्वरूप वाला होता है।*

***३) समाजव्यापी स्वरूप का विकास** (Development of Societywide Expansion) :- आत्मा के समाजव्यापी स्वरूप का विकास ही आत्मविस्तार का तृतीय चरण है। समाज का अभिप्राय अनेक परिवारों के संयोग से है। अपने संसाधनों, धनसम्पदाओं, कर्मों, फलों एवं उपलब्धियों का उपयोग जब किसी व्यक्ति और परिवार की सीमा से बाहर स्थित व्यक्तियों एवं परिवारों के लिए भी होने लगता है, तब इसे 'समाजव्यापी' आत्मिक स्वरूप का लक्षण माना जाता है। कोई भी मनुष्य समाजव्यापी आत्मिक स्वरूप वाला होकर ही समाजवादी गौरव को प्राप्त हो सकता है।*

***४) समष्टिव्यापी स्वरूप का विकास** (Development of Worldwide Expansion) :- समष्टि एक राष्ट्रीय इकाई भी हो सकती है, जिसमें जड़पदार्थ, वृक्षवनस्पति, पशुपक्षी एवं मनुष्यों का समावेश होता है। आत्मा के समष्टिव्यापी स्वरूप का विकास ही आत्मविस्तार का चतुर्थ चरण है। समष्टि का अभिप्राय एक ऐसी सर्वात्मक इकाई से है, जिसमें सृष्टि के चारों संवर्ग*

प्रतिष्ठित रहते हैं। अपने संसाधनों, धनसम्पदाओं, कर्मों, फलों एवं उपलब्धियों का उपयोग जब किसी व्यक्ति, परिवार और समाज की सीमा से ऊपर उठकर सम्पूर्ण समष्टि के लिए होने लगता है, तब इसे समष्टिव्यापी आत्मिक स्वरूप का लक्षण माना जाता है। कोई भी मनुष्य समष्टिव्यापी आत्मिक स्वरूप वाला होकर समष्टिवादी गौरव को प्राप्त हो सकता है।

५) ब्रह्माण्डव्यापी स्वरूप का विकास *(Development of Cosmoswide Expansion)*

:- *आत्मा के ब्रह्माण्डव्यापी स्वरूप का विकास ही आत्मविस्तार का पंचम चरण है। ब्रह्माण्ड का अभिप्राय एक ऐसी सार्वभौमिक इकाई से है, जिसमें पृथ्वी और सूर्य आदि समस्त ग्रह-उपग्रह समाविष्ट रहते हैं। अपने संसाधनों, धनसम्पदाओं, कर्मों, फलों, उपलब्धियों का उपयोग जब किसी व्यक्ति, परिवार, समाज और समष्टि की सीमा से ऊपर उठकर सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के लिए होने लगता है, तब इसे ब्रह्माण्डव्यापी आत्मिक स्वरूप का लक्षण माना जाता है। कोई भी मनुष्य ब्रह्माण्डव्यापी आत्मिक स्वरूप वाला होकर सर्वाधिक गौरव को प्राप्त हो सकता है।*

❀❀❀

ग) चिद्बिन्दु का विकास *(Development of Conscious Point) :- चेतना की तल्लीनता, तन्मयता एवं ध्येयनिष्ठा को ही 'ध्यान' कहते हैं। 'चिद्बिन्दु' के नियन्त्रण की चेष्टा ही 'ध्यानशीलता' है। ध्येयनिष्ठा द्वारा भी ध्यानशीलता को परिभाषित किया जा सकता है। ध्यान के अभ्यास द्वारा ही ध्यानशीलता का विकास होता है। ध्यानशीलता के निम्नलिखित पाँच लक्षण होते हैं :-*

१) सक्रियता का विकास *(Development of Activeness)* ***:-*** *किसी भी मनुष्य में चिद्बिन्दु प्रायः चंचल होता है। चिद्बिन्दु की यह सामान्य प्राथमिक दशा है। सक्रियता एवं चंचलता ही चैतन्य का अद्भुत गुणधर्म है। यह अनन्त-अनन्त गति से चलायमान चिद्बिन्दु की दशा है। आत्मचेतना प्रत्येक शरीर में अपना एक बिन्दु बना लेती है। इसे ही 'चिद्बिन्दु' कहते हैं। यह बिन्दु सदैव एकोन्मुखी होता है। एक समय में यह एक ही दिशाविशेष अथवा विषयविशेष पर विद्यमान रहता है। इन्द्रिय, मन व प्राण जिन-जिन विषयों पर गति करते हैं, चिद्बिन्दु उन-उन विषयों पर स्वतः गतिशील हो जाता है अथवा चिद्बिन्दु जिन-जिन दिशाओं में गति करता है, इन्द्रिय, मन, प्राण भी उसी ओर गति करने लगते हैं। सामान्यतः इन्द्रिय, मन अथवा प्राण की चंचलता ही चिद्बिन्दु की चंचलता का कारण बनती है। परन्तु सत्ज्ञान की वृद्धि होने पर चिद्बिन्दु की चंचलता समाप्त होने लगती है।*

२) एकाग्रता का विकास *(Development of Concentration)* ***:-*** *एकाग्रता का अभिप्राय एक ही दिशा में सतत् गतिशीलता से है। एक ही दिशाविशेष अथवा एक ही विषयविशेष पर निरन्तर गतिशील बने रहना ही चिद्बिन्दु की एकाग्रता का लक्षण है। 'इन्द्रिय' अथवा 'मन' अथवा 'प्राण' जिस भी दिशा अथवा विषयविशेष पर जाते हैं, चिद्बिन्दु उसी ओर स्वतः चला जाता है। चिद्बिन्दु की एकोन्मुखता ही एकाग्रता के नाम से जानी जाती है। चंचलता की तुलना में एकाग्रता अधिक प्रभावशाली होती है। एकाग्रतापूर्वक किया गया प्रत्येक कार्य अधिक गुणवत्तायुक्त होता है। एकाग्रता ही कर्मकौशल की वृद्धि करती है। ध्यानशीलता के अभ्यास द्वारा चिद्बिन्दु की एकाग्रता प्राप्त करी जा सकती है।*

३) स्थिरता का विकास *(Development of Stability):- 'स्थिरता' का अभिप्राय चिद्बिन्दु के स्थायित्व से है। जब चिद्बिन्दु किसी एक ही केन्द्रविशेष पर किसी वांछित समयविशेष तक स्थिर बना रहता है, तो उसे चिद्बिन्दु की 'स्थिरता' कहते हैं। चिद्बिन्दु की स्थिरता को एकाग्रता से भी श्रेष्ठ माना जाता है। स्थिर चिद्बिन्दु किसी भी कर्म में विशेष कौशल को जन्म दे सकता है। अनेक प्रकार की वांछित सिद्धियों की उपलब्धियों के द्वार भी चिद्बिन्दु की स्थिर दशा में ही खुलता है। चिद्बिन्दु की स्थिरता सिद्ध होने पर किसी भी व्रत या संकल्प को साकार किया जा सकता है। ध्यान के निरन्तर अभ्यास द्वारा चिद्बिन्दु की स्थिरता प्राप्त होती है।*

४) शून्यता का विकास *(Development of Blankness) :- शून्यता का अभिप्राय समस्त प्रकार के विषयों अथवा केन्द्रों की अनुपस्थिति से है। जहाँ पर विना किसी आधार के चिद्बिन्दु स्थिर रह सकता है, उसे ही 'शून्यता' कहते हैं। निराधार चिद्बिन्दु जब स्वयं से स्वयं में प्रतिष्ठित रहने की क्षमता प्राप्त कर लेता है, तब उसे 'शून्यावस्था' कहते हैं। शून्यावस्था में चैतन्य अत्यन्त प्रगाढ़ हो जाता है। चिद्बिन्दु की यह प्रौढ़ावस्था है। चिद्बिन्दु की इस शून्यावस्था में आत्मा अत्यन्तिक शान्ति को प्राप्त होती है। शून्यता का प्रतिफलन ही समाधि है। निरन्तर ध्यानाभ्यास से चिद्बिन्दु की शून्यावस्था प्राप्त होती है।*

५) समाधि का विकास *(Development of Trance) :- समाधि का अभिप्राय चिद्बिन्दु की उस अवस्था से है, जहाँ पर चैतन्य परम समाधान को प्राप्त होता है। आत्मचेतना की इस दशा में चिद्बिन्दु सर्वसमर्थ हो जाता है। समस्त परमेश्वरीय गुण और सामर्थ्य इसी दशा में आत्मचेतना उपलब्ध कर लेती है। समाधि की दशा में चिद्बिन्दु जिस विषय का संयम करता है, वह विषय स्वतः सिद्ध होने लगता है। जैसे- समाधिस्थ व्यक्ति यदि किसी भारी वस्तु को रुई के समान हल्के होने का भाव करे, तो इस भाव का संयम सिद्ध होने पर वह वस्तु निर्भार होने लगती है। चिद्बिन्दु की इस दशा में समस्त शक्तियाँ प्रकाशित हो जाती हैं। समस्त सिद्धियाँ इसी दशा में स्वतः अभिव्यक्त होती हैं। 'चिद्साधन्य' अथवा 'संयम' की सामर्थ्य ही 'समाधि' है। चेतना की परम सघनता को ही यहाँ पर 'संयम' शब्द के द्वारा अभिहित किया गया है। समाधि की अवस्था ही चिद्बिन्दु की परमावस्था है, जिसे सतत् ध्यानाभ्यास द्वारा प्राप्त किया जाता है।*

❁❁❁

घ) चिद्स्तर का विकास *(Development of Conscious Level) :- चिद्स्तर का अभिप्राय चेतना के विविध स्तरों के विकास से है। चेतना के 5 स्तर होते हैं- जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति, तुरीय, तुरीयातीत। चेतना के इन पाँचों स्तरों में प्रवेश के लिए साधना की आवश्यकता होती है। योगाभ्यास द्वारा उन्नत होती हुई चेतना इन पाँचों स्तरों की क्षमताओं को अर्जित करने में सहायक हैं। चेतनात्मक विकास के पाँचों स्तरों का संक्षिप्त परिचय निम्नलिखित हैं :-*

१) जाग्रत चेतना का विकास *(Development of Awaken Conscious) :- चेतना के जाग्रतस्तर का अभिप्राय चेतना की 'बहिष्प्राज्ञ' दशा से है। यह जाग्रतस्तर शरीर की इन्द्रियों में स्थित रहता है। इन्द्रियाँ बहिर्मुखी होती हैं, अतः बहिष्प्राज्ञ दशा में चेतना इन्द्रियपरायण एवं बहिर्मुखी होती है, बाह्यविषयों को ही अनुभव करती है। बाह्यविषयों का अनुभव करते हुए यदि चिद्विवेक विद्यमान रहे, तभी वह चेतना का 'जाग्रतस्तर' कहलाता है। यदि जाग्रतकेन्द्र पर अचेतन केन्द्रों का आच्छादन हो जाये, तो चेतना का जाग्रतस्तर भी विलुप्त हो जाता है। ऐसी*

स्थिति केवल पशुओं एवं विक्षिप्त मनुष्यों की होती है। किसी विक्षेपविशेष से निरन्तर ग्रस्त रहना ही विक्षिप्तता कहलाती है। विक्षिप्त मनुष्यों का जाग्रतकेन्द्र विलुप्त हो जाता है। इन्द्रियों की क्रियाओं पर सचेतन नियन्त्रण द्वारा जाग्रतचेतना प्राप्त होती है।

***२) स्वप्न चेतना का विकास** (Development of Dreaming Conscious) :-* *स्वप्नस्तर में चेतना की 'अन्तर्प्राज्ञ' दशा होती है। जब इन्द्रियाँ अन्तर्मुखी हो जाती हैं, तब अन्तर्प्राज्ञ दशा उत्पन्न होती है। स्वप्नदशा में मनुष्य इन्द्रियों से बाह्य विषयों की अनुभूति नहीं करता, बल्कि पूर्णतः अन्तर्मुखी होकर मन में प्रतिष्ठित हो जाता है। सभी इन्द्रियाँ जब मन में प्रतिष्ठित होकर मनाकाश में ही रमण करने लगती हैं, तथा बाह्यविषयों की अनुभूति से चेतना विरत होकर अन्तर्मुखी हो जाती हैं, उसी अवस्था को चेतना का 'स्वप्नस्तर' कहा जाता है। स्वप्नकेन्द्र में प्रतिष्ठित व्यक्ति अन्तर्प्राज्ञ होता है। स्वप्नकेन्द्र से ही मनुष्यों को विचार करने की सामर्थ्य प्राप्त होती है। सजगतापूर्वक विचार करने की क्षमता ही मनुष्य को मनस्वी बनाती है। किन्तु स्वप्नकेन्द्र केवल विचार ही नहीं, किन्तु चित्रों द्वारा अन्तर्मनन की प्रक्रिया में भी समर्थ होता है। मानसिक क्रियाओं पर सचेतन नियन्त्रण द्वारा स्वप्नचेतना प्राप्त होती है, तब मनुष्य अधिकारपूर्वक शब्दों एवं चित्रों द्वारा मानसिक क्रियाओं को सम्पादित करने में समर्थ हो जाता है।*

***३) सुषुप्ति चेतना का विकास** (Development of Sleeping Conscious) :-* *सुषुप्ति स्तर पर चेतना की 'प्राज्ञ' दशा होती है। सुषुप्तिकेन्द्र में प्रतिष्ठित चेतना प्राणस्थ होती है। समस्त इन्द्रियाँ और मन उस प्राण में ही प्रतिष्ठित हो जाते हैं। तब प्राणस्थ चेतना न बहिर्मुखी होती है, न अन्तर्मुखी। बहिर्गत एवं अन्तर्गत दोनों प्रकार के जगतों से मुक्त होकर चेतना प्राणभाव को प्राप्त हो जाती है। तब समस्त इन्द्रियों की क्रियायें एवं मन के विचार प्राण में ही लीन हो जाते हैं। चेतना भावतरंगों के रूप में स्वयं से स्वयं में रममाण हो जाती है। इसे ही 'सुषुप्तिस्तर' कहते हैं। प्राणयोग सिद्ध होने पर ही किसी मनुष्य को यह सुषुप्तिस्तर उपलब्ध होता है। प्राणऊर्जा मूलाधार से ऊपर उठकर जब भ्रूमध्य मस्तक पर स्थित आज्ञाचक्र में प्रतिष्ठित हो जाती है, तब इसे 'योगधारणा' के नाम से जाना जाता है। सुषुप्तिकेन्द्र धारणायुक्त है। प्राण श्रद्धालु है। श्रद्धा को ही 'धारणा' कहते हैं। योगधारणा के बल से ही सचेतन सुषुप्तिकेन्द्र हस्तगत किया जा सकता है। जिस अवस्था में सामान्य प्राणी सोये रहते हैं, उस अवस्था में योगी सचेतनरूप से विद्यमान रहता है–**'या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।'** सुषुप्ति की दशा में ही प्राणयोग के प्रभाव से श्वास मध्यनाल में प्रतिष्ठित होकर सुषुम्नागत हो जाता है। यह सुषुम्नानाड़ी की उपलब्धि ही सुषुप्तिकेन्द्र की उपलब्धि है, जिसमें श्वास सम होकर लम्बी और दीर्घ हो जाती है। चित्तवृत्तियों अथवा भावनात्मक क्रियाओं पर नियन्त्रण द्वारा सुषुप्तिचेतना प्राप्त होती है।*

***४) तुरीय चेतना का विकास** (Development of Cosmic Conscious) :-* *चेतना के तुरीय स्तर का अभिप्राय चेतना की महाप्राज्ञ दशा से है, जिसमें क्रिया, विचार, भाव तीनों लीन हो जाते हैं। इन्द्रियाँ, मन, प्राण तीनों का प्रलय होने पर तुरीयकेन्द्र उपलब्ध होता है। इसे चेतना का शून्यकाल भी कहा जाता है। जहाँ पर इन्द्रिय, मन, प्राण कोई हलचल नहीं मचाते, उसी शून्य एवं शान्त दशा में महाप्राज्ञ तुरीय चेतना विकसित होती है। चेतनात्मक क्रियाओं पर नियन्त्रण द्वारा तुरीयचेतना प्राप्त होती है। यह चेतना की सार्वलौकिक दशा है। यह बीजस्वरूप है, जिसमें तीनों लोक अथवा तीनों मात्रायें एकीभूत होकर प्रतिष्ठित रहती हैं। इसमें इन्द्रियाँ, मन, प्राण संयुक्त हो जाते हैं। तीनों लोक और तीनों मात्रायें संयुक्त होकर बीजरूप से प्रतिष्ठित हो जाती हैं।*

५) तुरीयातीत चेतना का विकास (Development of Beyond Cosmic Conscious)

:- चेतना की तुरीयातीत अवस्था का विकास ही आत्मा का अत्यन्तिम विकास है, जहाँ पर ज्ञान, ज्ञेय, ज्ञाता सब एकीभूत हो जाते हैं। यह चेतना का समाधिकाल है। यह परम आध्यात्मिक दशा है। तुरीयातीत अवस्था अप्रतिम है। यही परम अद्वैतदशा है। यह परम अद्‌भुत एवं परम आश्चर्यजनक भी है। यह मानवीय उपलब्धियों की पराकाष्ठा है। इसमें परम सामर्थ्य एवं परम व्यापकता की दशा है। यह निर्बीज है, यह पूर्णमुक्त है।

❀❀❀

अध्याय : ५

मानवजीवनविकास का समीक्षण एवं परीक्षण

(Review & Test of Humanlife Development)

शारीरिक, मानसिक, भावनात्मक, चेतनात्मक विकासयात्रा

(Physical, Mental, Emotional, Spiritual Development Journey)

मानवजीवनविकास का समीक्षण एवं परीक्षण
(Review & Test of Humanlife Development)

मानवजीवन का विकास की पृष्ठभूमि (Background of Humanlife Development)

:- मनुष्य सृष्टि का सर्वश्रेष्ठ प्राणी है। संसार सृष्टि का विकासप्रवाह है। सृष्टि क्रमशः विकसित होते हुए चार आयामी रूप से अभिव्यक्त होती है– जड़वस्तु, वृक्षवनस्पति, पशुपक्षी, मनुष्य। जड़वस्तुयें ही सृष्टि की प्रथम अभिव्यक्ति हैं, जो चेतना के 'तुरीय' अचेतन आयाम में प्रतिष्ठित हैं। वृक्षवनस्पति चेतना के 'सुषुप्ति' अचेतन आयाम में प्रतिष्ठित हैं। पशुपक्षी चेतना के 'स्वप्न' अचेतन आयाम में प्रतिष्ठित हैं। मनुष्य चेतना के 'जाग्रत' सचेतन आयाम में प्रतिष्ठित हैं। स्थान, समय, कारण, परिणाम ही क्रमशः ब्रह्माण्ड की अभिव्यक्ति के चार आधार हैं। ये चारों आधार क्रमबद्ध हैं। इन चारों आयामों को ही परमात्मा, प्राण, प्रकृति, पदार्थ के नाम से जाना जाता है। स्थान को परमात्मा, समय को प्राण, कारण को प्रकृति एवं परिणाम को पदार्थ कहा जाता है। परमात्मा से प्राण, प्राण से प्रकृति, प्रकृति से पदार्थ की क्रमबद्ध अभिव्यक्ति होती है। वैज्ञानिक दृष्टि से दूसरे शब्दों में कहा जाये, तो स्थान से समय, समय से कारण, कारण से परिणाम उत्पन्न होते है।

मानवजीवनविकास के चारों तत्त्वों का परिचय (Introduction of four Elements of Humanlife Development) :- सभी मनुष्यों में स्थान, समय, कारण, परिणाम इत्यादि चारों तत्त्व अचेतन अथवा सचेतन रूप से प्रतिष्ठित हैं। मानवजीवनविकासयात्रा इन चारों तत्त्वों के विकास पर निर्भर है। इन चारों तत्त्वों को ही परमात्मा, प्राण, प्रकृति, पदार्थ कहा जाता है। मनुष्यों में पदार्थ ही तन है, प्रकृति ही मन है, प्राण ही ऊर्जा है, परमात्मा ही आत्मा है। इन चारों तत्त्वों को त्रिविध रूप से समझने का क्रम भी अद्‌भुत है। इनका संक्षिप्त परिचय निम्नलिखित है :–

१) स्थान तत्त्व (Space Element) :- स्थान त्रिआयामी है– लम्बाई, चौड़ाई, ऊँचाई।

२) समय तत्त्व (Time Element) :- समय त्रिआयामी है– विगत, वर्तमान, भविष्य।

३) कारण तत्त्व (Cause Element) :- कारण त्रिआयामी है– तामस, राजस, सात्त्विक।

४) परिणाम तत्त्व (Result Element) :- परिणाम त्रिआयामी है– स्थूल, सूक्ष्म, परम।

सृष्टि की रचना में इन चारों तत्त्वों को जानने के लिए निम्नलिखित ४ प्रश्नों का उपयोग किया जा सकता है :-

1. सृष्टि की कोई भी इकाई कहाँ से कहाँ तक है ?
2. सृष्टि की कोई भी इकाई कब से कब तक है ?
3. सृष्टि की कोई भी इकाई क्यों और कैसे है ?
4. सृष्टि की कोई भी इकाई क्या और कौन है ?

मानवजीवनविकासक्रम (Humanlife Development Sequence) :- सृष्टि का विकासक्रम अचेतन (प्राकृत) रूप से आगे बढ़ता है, किन्तु मानवजीवन का विकासक्रम सचेतन (संस्कृत) रूप से गतिमान होता है। तदनुसार सचेतन क्रिया, सचेतन विचार, सचेतन भाव एवं सचेतन आत्मा की दशा उत्पन्न होती है। यह सचेतन विकासयात्रा क्रमशः शारीरिक क्षमता **(PQ)**, मानसिक क्षमता **(IQ)**, भावनात्मक क्षमता **(EQ)**, चेतनात्मक क्षमता **(SQ)** के रूप में होती है। इन चारों

क्षमताओं को ही क्रमशः क्रियाशक्ति, वाक्शक्ति, इच्छशक्ति, चिद्शक्ति के नाम से जाना जाता है। बल, वाणी, व्रत, विवेक इन्हीं चारों केन्द्रों की उपलब्धियाँ हैं। इन चारों क्षमताओं का विकास क्रमबद्ध है। क्रम को भंग करके किया गया विकास उपयोगी नहीं सिद्ध हो पाता।

***मानवजीवनविकास का महत्त्व** (Importance of Humanlife Development) :-*
संसार में लाखों प्रकार के प्राणियों की रचना हुई है। मनुष्य भी इन्हीं प्राणियों में से एक है। मनुष्य के अतिरिक्त सभी प्राणी 'पशु' कहलाते हैं, क्योंकि ये पाशबद्ध होते हैं। प्रकृति के पाश (बन्धन/रस्सी) से बद्ध रहने के कारण इन्हें 'पशु' कहा जाता है। किन्तु 'मनुष्य' नामक प्राणी पूर्णतः प्राकृत या पाशबद्ध नहीं होते। मनुष्य में मानसिक विकास की संभावना होती है। मनुष्य के मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार का परिष्कार संभव होता है। मनुष्य एक प्रबुद्ध एवं संस्कृत प्राणी है। संस्कृति के द्वारा इसकी प्रकृति का परिष्कार संभव होता है। मानवजीवन के चारों आयाम सांस्कृतिक एवं सामाजिक प्रयत्नों द्वारा विकसित किये जा सकते हैं।

शारीरिक, मानसिक, भावनात्मक, चेतनात्मक क्षमताओं का विकास प्रयत्नपूर्वक करते हुए मनुष्य अपनी वरीयताक्रम का उत्थान कर सकता है तथा बद्धजीव से मुक्तजीव सिद्ध हो सकता है। तन, मन, प्राण, आत्मा के रुप में चार केन्द्रों के विकास द्वारा उच्चतर मानवीय क्षमताओं को हस्तगत किया जा सकता है। ये चारों केन्द्र क्रमशः विकसित होकर उसे दासता से स्वामित्व की ओर ले जाते हैं, प्राकृत से संस्कृत बनाते हैं, बद्ध से मुक्त बनाते हैं, अक्षम से सक्षम बनाते हैं। यह सब कुछ मनुष्यों की चार आयामी जीवनविकासयात्रा द्वारा ही संभव है।

जीवनविकास के चार सोपान चढ़ते हुए मनुष्य क्रमशः अवरीय से ऊपर उठकर अल्पपवरीय, अर्धवरीय, अधिवरीय एवं पूर्णवरीय सिद्ध हो सकता है। स्पष्ट है कि मानवजीवनविकासयात्रा अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। साथ ही इसकी उत्तरोत्तर श्रेष्ठ उपयोगिता भी सिद्ध होती है।

मानवजीवनविकास की उपयोगिता** (Utility of Humanlife Development) :- चार प्रकार की क्षमताओं के विकास द्वारा क्रमशः चार प्रकार के कर्मों का सफल सम्पादन किया जा सकता है। शारीरिक क्षमता द्वारा कृषिकर्म, मानसिक क्षमता द्वारा वाणिज्यकर्म, भावनात्मक क्षमता द्वारा राज्यकर्म एवं चेतनात्मक क्षमता द्वारा नेतृत्वकर्म की न्यायसंगत पात्रता सिद्ध होती है। पात्रतानुसार पदनियुक्ति की न्यायसंगत सामाजिक व्यवस्था भी इसी के द्वारा प्रतिष्ठित हो सकती है। समाज में कर्म, पद, सम्पदा पर स्वामित्व का न्यायोचित अधिकार भी इसी न्यायशील सामाजिक व्यवस्था द्वारा ही संभव है। क्षमतानुसार पात्रता, पात्रतानुसार कर्म, कर्मानुसार पद, पदानुसार सम्पदा को धारण करने की न्यायसंगत सामाजिक व्यवस्था इस मानवीय जीवनविकासयात्रा द्वारा प्रतिष्ठित हो सकती है। अतः मानवजीवन के विकास हेतु हम तनचतुष्टय, मनचतुष्टय, भावचतुष्टय एवं चिद्चतुष्टय का क्रमबद्ध परिष्कार करें। इन चारों केन्द्रों/आयामों की ज्योति को प्रदीप्त करें। मनुष्यों के चारों केन्द्रों में सुप्त पड़ी हुई शारीरिक क्षमता **(PQ)**, मानसिक क्षमता **(IQ)**, भावनात्मक क्षमता **(EQ)** एवं चेतनात्मक क्षमता **(SQ)** को जाग्रत करें, समर्थ बनायें और उसका सदुपयोग करें। तदनुसार ही कृषि, वाणिज्य, राज्य, नेतृत्व इत्यादि चारों कर्मों को सुव्यवस्थित करें, ताकि समाज व राष्ट्र को समृद्ध, सुन्दर, सुखी एवं स्वस्थ बनाया जा सके–**'न्यायं शरणं गच्छामि।'

मानवजीवनविकास का उद्देश्य *(Objective of Humanlife Development) :-*
मानवजीवनविकास के निम्नलिखित उद्देश्य हैं :–

१) मानवीय जीवनलक्ष्यों की उपलब्धि *(Achievement of Humanlife Goals) :- जीवनलक्ष्य की प्राप्ति के विना मानवजीवन सार्थक नहीं सिद्ध हो पाता। मानवजीवन के 4 लक्ष्य हैं– धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष। इन चारों जीवनलक्ष्यों को क्रमशः गुण, धन, सुख, स्वास्थ्य भी कहा जाता है। गुण ही धर्म है, धन ही अर्थ है, सुख ही काम है, स्वस्ति ही मोक्ष है। मानवजीवन के चारों आयामों का विकास किये विना यह जीवनलक्ष्य उपलब्ध नहीं हो सकता। शारीरिक विकासयात्रा के कारण कर्म की सामर्थ्य विकसित होती है। गुण और कर्म पर्यायवाची माने जाते हैं। तदनुसार तन से धर्मकर्तव्य का पालन होता है। मन से अर्थबोध प्राप्त होता है। प्राण से कामसुख प्राप्त होता है। आत्मा से मोक्षलाभ सिद्ध होता है। स्वस्ति, स्वास्थ्य, स्वतन्त्रता, स्वाधीनता एवं स्वावलम्बिता इत्यादि को ही 'मोक्ष' कहते हैं।*

२) उच्चस्तरीय क्षमताओं की उपलब्धि *(Achievement of High Level Capabilities) :- मानवजीवन की क्रमबद्ध विकासयात्रा के द्वारा मनुष्यों में उत्तरोत्तर उच्च क्षमताओं का विकास होता है। शारीरिक विकास से क्रियाशक्ति, मानसिक विकास से विचारशक्ति, भावनात्मक विकास से भावशक्ति एवं चेतनात्मक विकास से चिद्शक्ति का उदय होता है, जिससे मनुष्य में उच्चस्तरीय कर्मों को करने की सामर्थ्य का उदय होता है। बल, वाणी, व्रत, विवेक का जन्म चारों मानवीय केन्द्रों के विकास द्वारा ही होता है। इन चारों क्षमताओं द्वारा ही कृषि, वाणिज्य, राज्य, नेतृत्व आदि कर्मों का सफल सम्पादन संभव होता है। बल से कृषिकर्म, वाणी से वाणिज्यकर्म, व्रत से राज्यकर्म, विवेक से नेतृत्वकर्म का सफल सम्पादन संभव होता है। बल ही क्रियाशक्ति है, जो कृषिकर्म के लिए आवश्यक है। वाणी ही वाक्शक्ति है, जो वाणिज्यकर्म के लिए आवश्यक है। व्रत ही भावशक्ति है, जो राज्यकर्म के लिए आवश्यक है। विवेक ही चिद्शक्ति है, जो नेतृत्वकर्म के लिए आवश्यक है। मानवजीवनविकासयात्रा द्वारा ही ये चारों क्षमतायें उपलब्ध होती हैं, जो समाज में प्रतिष्ठित चारों कर्मों के लिए आवश्यक भी हैं।*

३) अधिकारों की उपलब्धि *(Achievement of Rights) :- मानवजीवन विकासयात्रा ही समाज एवं राष्ट्र में मनुष्यों को न्यायोचित मानवाधिकारों एवं जनाधिकारों की उपलब्धि कराती है। मानवीय क्षमताओं का विकास किये विना पशुतुल्य साधारण जीवों को अपने न्यायोचित हिताधिकारों का बोध भी नहीं होता और वे अपने इन न्यायोचित हिताधिकारों को उपलब्ध भी नहीं कर पाते। अविकसित अवस्था में मनुष्य भी पशुतुल्य अक्षम, असमर्थ एवं दयनीय जीवन जीने को विवश होता है।*

४) कर्तव्यपालन की सामर्थ्य का उदय *(Rise of Strength of Duties) :- मानवजीवन के चार कर्तव्य होते हैं– वैयक्तिक, पारिवारिक, सामाजिक, सामष्टिक। इन चारों कर्तव्यों का पालन ही चार प्रकार की श्रमनिष्ठा के रूप में जाना जाता है। मानवजीवन विकासयात्रा के विना इन चारों कर्तव्यों का पालन नहीं किया जा सकता। कर्तव्यों और उत्तरदायित्वों का बोध मानवीय क्षमताओं के विकास द्वारा ही उपलब्ध होता है तथा इन न्यायोचित कर्तव्यों अथवा उत्तरदायित्वों के परिपालन की सामर्थ्य भी मानवीय जीवनविकासक्रम द्वारा ही उपलब्ध होती है।*

मानवजीवनविकास का प्रभाव *(Effect of Humanlife Development) :-*
मानवजीवनविकास की चार आयामी संभावनायें होती हैं। इन संभावनाओं के साकार होने पर निम्नलिखित प्रभाव दृष्टिगोचर होते हैं :–

१) मानवीय महिमा का प्रकाशन *(Publication of Human Glory) :- चारों मानवीय केन्द्रों के विकास से मनुष्य की सम्पूर्ण संभावनायें प्रकाशित होती है। विकास के विना मनुष्य भी एक साधारण जीव होता है। अविकसित मनुष्य पशुओं से अधिक कुछ भी सिद्ध नहीं हो पाता। जीवन की चार आयामी विकासयात्रा ही क्रमशः उसे पशुता से ऊपर उठाती है। मानवीय जीवनमूल्यों का उदय इस चार आयामी विकासयात्रा द्वारा ही संभव होता है। अपूर्ण जीव से पूर्ण मानवीय व्यक्तित्व की उपलब्धि हेतु मनुष्य को अपने शारीरिक, मानसिक, भावनात्मक, चेतनात्मक विकास की सम्पूर्ण संभावनाओं को साकार करना अनिवार्य है। इसी से मनुष्य को मानवीय गौरव, गरिमा, महिमा, मूल्यवत्ता प्राप्त होती है। जो मनुष्य जितने केन्द्रों का विकास कर पाता है, वह उतना अधिक गरिमा और महिमा को प्राप्त होता है।*

२) सांस्कृतिक समुन्नति *(Cultural Improvement) :- सृष्टि जड़ता से चैतन्यता की ओर एक प्रवाह है। अन्धकार से प्रकाश की ओर यात्रा ही संसार है। नकारात्मकता से सकारात्मकता की ओर जीवन की दिशा है। विनाश से विकास की ओर यात्रा ही जीवन है। मानवजीवन की चार आयामी विकासयात्रा इसी उद्देश्य की पूर्ति करती है। असत् से सत् की ओर जाने के लिए मनुष्य को क्रमशः अपने चारों आयामों को विकसित करना होगा। दासता से स्वामित्व की ओर जाने के लिए मानवजीवन की विकासयात्रा पूर्ण करनी होगी। प्राकृत से संस्कृत होने के लिए मानवजीवन को अपनी विकासयात्रा अपनानी होगी। अज्ञान से ज्ञान की ओर, मूर्खता से विद्वता की ओर, अभाव से प्रभाव की ओर, दोष से गुण की ओर, दासता से मुक्ति की ओर, दुर्गति से सद्गति की ओर, असभ्य से सभ्य की ओर, दरिद्रता से समृद्धि की ओर, कुरूपता से सुन्दरता की ओर, अभद्रता से भद्रता की ओर, अक्षमता से सक्षमता की ओर, पराजय से विजय की ओर, मृत्यु से जीवन की ओर गतिमान होने के लिए मानवजीवन की यह क्रमबद्ध चार आयामी विकासयात्रा अनिवार्य है। इसी से सांस्कृतिक समुन्नति संभव है।*

३) मानवीय क्षमताओं का उदय *(Rise of Human Capabilities) :- प्रत्येक मनुष्य में चार प्रकार की क्षमताओं के विकास की संभावना होती है– शारीरिक क्षमता **(PQ)**, मानसिक क्षमता **(IQ)**, भावनात्मक क्षमता **(EQ)**, चेतनात्मक क्षमता **(SQ)**। ये चारों क्षमतायें मनुष्य की क्रमबद्ध विकासयात्रा द्वारा उपलब्ध होती हैं। शारीरिक क्षमता से 'क्रियाशक्ति' प्राप्त होती है, 'बल' ही क्रियाशक्ति है। मानसिक क्षमता से 'वाक्शक्ति' प्राप्त होती है, 'वाणी' ही वाक्शक्ति है। भावनात्मक क्षमता से 'व्रतशक्ति' प्राप्त होती है, 'व्रत' ही भावशक्ति है। चेतनात्मक क्षमता से 'चिद्शक्ति' प्राप्त होती है, 'विवेक' ही चिद्शक्ति है। ये बल, वाणी, व्रत, विवेक ही चारों केन्द्रों की प्रमुख शक्तियाँ हैं। इन चारों मानवीय क्षमताओं के द्वारा ही मानवीय कर्मों का सफल सम्पादन संभव होता है। मानवजीवन की चार आयामी विकासयात्रा के द्वारा ही इन चारों मानवीय क्षमताओं का उदय होता है। विविध उपायों द्वारा इन चारों मानवीय आयामों अथवा केन्द्रों की क्षमताओं का विकास किया जा सकता है तथा विविध प्रकार के परीक्षणों द्वारा इन चारों मानवीय क्षमताओं की उपस्थिति का प्रमाण भी प्राप्त किया जा सकता है और तदनुसार ही समाज में कर्म, पद, सम्पदा पर स्वामित्व का निर्णय भी किया जा सकता है।*

४) वरीयताक्रम की प्रतिष्ठा *(Establishment of Merit Sequence) :- वरीयता का अभिप्राय मनुष्य की पात्रता से है। पात्रता का निर्धारण मनुष्य की विकसित क्षमता, शैक्षणिक योग्यता, चारित्रिक गुणवत्ता एवं कर्म कौशल पर आधारित है। कोई व्यक्ति कितना सक्षम है, योग्य है, गुणवान् है, कुशल है, इसी आधार पर उसकी वरीयता सिद्ध होती है। मानवजीवनविकास के चार क्रमबद्ध आयाम हैं, जो उत्तरोत्तर श्रेष्ठ हैं– तन, मन, प्राण, आत्मा। इन चारों के विकास से क्रमशः चार प्रकार की क्षमताओं का विकास होता है– शारीरिक क्षमता* ***(PQ)****, मानसिक क्षमता* ***(IQ)****, भावनात्मक क्षमता* ***(EQ)****, चेतनात्मक क्षमता* ***(SQ)****। ये चारों क्षमतायें उत्तरोत्तर अधिक उपयोगी एवं महत्त्वपूर्ण हैं। अतः इन चारों क्षमताओं द्वारा ही मनुष्यों में क्रियाशक्ति, वाक्शक्ति, भावशक्ति एवं चिद्शक्ति का उदय होता है, जो क्रमशः कृषिकर्म, वाणिज्यकर्म, राज्यकर्म, नेतृत्वकर्म इत्यादि के लिए आवश्यक होती हैं। कर्म, पद, सम्पदा को धारण करने की सामर्थ्य के विना किसी भी क्षेत्र में सफलता की प्राप्ति संभव नहीं होती। इन चारों क्रमबद्ध क्षमताओं के आधार पर ही मनुष्यों की पात्रता का निर्धारण होता है। मुख्यतः इसे ही वरीयताक्रम कहते हैं, जिसके द्वारा जंगली जातीयताक्रम के दोषों से मुक्ति प्राप्त होती है। स्पष्ट है कि मानवजीवन की इस चार आयामी विकासयात्रा के द्वारा ही समाज में यह वरीयताक्रम प्रतिष्ठित हो सकता है, जिससे एक न्यायोचित, सामाजिक व्यवस्था का उदय होता है।*

५) कर्मों की सफलता *(Success of Works) :- सक्षमता के विना किसी भी कर्म का सफल सम्पादन नहीं हो सकता। कर्मों की सफलता मनुष्यों की कर्मसामर्थ्य पर ही निर्भर करती है। अक्षम एवं असमर्थ व्यक्ति किसी भी कर्म को सफलतापूर्वक सम्पादित नहीं कर सकते। अतः कर्माधिकार का निर्णय मनुष्यों की कर्मसामर्थ्य पर आधारित होता है। न्यायोचित नीति वही है, जो मनुष्य को सफल कर्मचारी बना सके। न्यायोचित पदनियुक्ति की व्यवस्था द्वारा ही क्षमतानुसार कर्माधिकार प्रतिष्ठित हो सकता है। न्यायशील सामाजिक अथवा राष्ट्रीय व्यवस्था में क्षमतानुसार पात्रता, पात्रतानुसार कर्म, कर्मानुसार पद एवं पदानुसार सम्पदा पर स्वामित्व का अधिकार सुनिश्चित होता है। इसी न्यायसंगत व्यवस्था पर ही समस्त कर्मों की सफलता निर्भर करती है। इस न्यायशील व्यवस्था के विना समस्त कर्मों के असफल होने की संभावना बनी रहती है।*

६) न्यायस्थापना में सहायक *(Assistant in Justice Establishment) :- मानवजीवनविकासयात्रा मानवीय समाज एवं राष्ट्र में न्याय की स्थापना में भी सहायक है। न्यायशील नियमों, नीतियों, निर्णयों की प्रतिष्ठा के लिए चारों आयामों में विकसित मनुष्यों की आवश्यकता होती है। कोई भी सामाजिक अथवा राष्ट्रीय व्यवस्था इन चारों मानवीय क्षमताओं के विना प्रतिष्ठित नहीं हो सकती। मानवसमाज को चार प्रकार के मानवीय कर्मों की आवश्यकता होती है– कृषि, वाणिज्य, राज्य, नेतृत्व। इन चारों कर्मों का सफल सम्पादन किये विना कोई भी मानवीय सभ्यता प्रतिष्ठित नहीं हो सकती। अतः चारों मानवीय सामर्थ्यों का विकास अनिवार्य है। न्यायशील व्यवस्था पात्रतानुसार कर्म, पद, सम्पदा के स्वामित्व की आवश्यकताओं का निर्धारण करती है, जिसकी पूर्ति के लिए इन चारों क्षमताओं का विकास अनिवार्य हो जाता है। स्पष्ट है कि किसी भी समाज व राष्ट्र की व्यवस्था में न्याय की स्थापना के लिए मानवजीवन की चार आयामी विकासयात्रा सहायक है। इसके विना न्यायशील सामाजिक व राष्ट्रीय संरचना प्रतिष्ठित नहीं हो सकती।*

७) सामाजिक सभ्यता का उदय (Rise of Social Civilization) :- *मानवजीवन के चार आयामी विकास से ही मानवीय सामाजिक सभ्यता का उदय होता है। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। सामाजिक सभ्यता के विना वह मानवीय जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं कर सकता। साधारण पशुपक्षियों की भाँति मनुष्य जंगली वातावरण में मनुष्यत्व की महिमा को अभिव्यक्त नहीं कर सकता। मानवजीवनलक्ष्यों की सिद्धि के लिए सामाजिक सभ्यता आवश्यक है। सामाजिक सभ्यता चारों कर्मों के न्यायसंगत सम्पादन पर आश्रित है। जंगल में कृषि, वाणिज्य, राज्य, नेतृत्व इत्यादि मानवीय कर्म का न्यायोचित सम्पादन नहीं होता, जिससे जंगली सभ्यता अमानवीय होती है। चारों मानवीय कर्मों के न्यायोचित सम्पादन हेतु चारों मानवीय क्षमताओं के विकास की अनिवार्यता प्रमाणित है, जिस पर मानवीय सामाजिक सभ्यता निर्भर करती है।*

८) संघर्ष, युद्ध, आक्रमण, शोषण, आतंक का अन्त (End of Quarrel, War, Attack, Exploitation, Terrorism) :- *समाज में असमाजिक परिस्थितियों का अन्त करने के लिए मनुष्यों को जंगली प्रवृत्ति से ऊपर उठना आवश्यक है। जंगली व्यवस्था में परस्पर संघर्ष, युद्ध, आक्रमण, शोषण, लूट, आतंक इत्यादि का वातावरण बना रहता है। इन भयंकर परिस्थितियों की समाप्ति हेतु मानवीय क्षमताओं के विकास की आवश्यकता होती है। मानवीय क्षमताओं का विकास किये विना जंगली दुर्दशा का अन्त नहीं हो सकता। मनुष्यों के बीच मानवीय परिस्थितियों की स्थापना हेतु मानवीय क्षमताओं का विकास एवं तदनुकूल न्यायोचित अधिकारों, कर्तव्यों एवं उत्तरदायित्वों की प्रतिष्ठा अनिवार्य होती है।*

९) जंगलराज से मंगलराज की ओर प्रस्थान (Moving towards Good Regime from Bad Regime) :- *जंगली परिस्थितियों में सात्त्विक अथवा राजसिक वातावरण नहीं पाया जाता। सर्वत्र असत् एवं तामसिक वातावरण दिखाई देता है। अद्वैत के स्थान पर द्वैत की प्रवृत्ति एवं तदनुसार पारस्परिक संघर्ष ही सर्वत्र दृष्टिगोचर होता है। प्रतियोगिता के स्थान पर प्रतिद्वन्द्विता प्रतिष्ठित हो जाती है। सभी प्राणी एक-दूसरे के विनाश पर ही अपना विकास देखने लगते हैं। जंगल में दूसरे जीवों की मृत्यु द्वारा ही अपने जीवन की रक्षा का प्रयत्न करते ही समस्त जीव दिखाई पड़ते हैं। इस असत् वातावरण से सत् की ओर प्रस्थान करने के लिए मानवीय जीवनमूल्यों की प्रतिष्ठा अनिवार्य है। मानवीय जीवनमूल्यों का उदय मानवीय क्षमताओं के विकास पर ही संभव है। अतः असत् से सत् की ओर जाने के लिए सभी मनुष्यों को अपने जीवन की चार आयामी विकासयात्रा के लिए प्रयत्नशील होना आवश्यक है।*

१०) सार्वभौमिक मानवीयता का उदय (Rise of Universal Humanity) :- *मानवीय एकात्मवाद पर ही मानवसमाज प्रतिष्ठित हो सकता है। आत्मिक एकता को स्वीकार किये विना मनुष्यों का एकीकरण नहीं किया जा सकता। भिन्न-भिन्न शरीरों में स्थित मौलिक आत्मा एक है, जैसे अनेक घड़ों में भरे हुए जल में अनेक सूर्य दिखाई देते हैं, जबकि घड़ों के सापेक्ष केवल एक ही सूर्य स्थित रहता है। वह एक सूर्य ही अनेक घड़ों में प्रतिभासित होकर अनेक होने का भ्रम उत्पन्न करता है। जब सम्पूर्ण सृष्टि एक ही ईश्वरीय ऊर्जा की सघनता द्वारा निर्मित है, तो भिन्न-भिन्न नाम, रूप, गुण एवं उपयोग वाली सभी वस्तुयें अथवा जीव मौलिक रूप से एकात्म ही हैं। किन्तु इस मानवीय एकात्मता की उपलब्धि के लिए मानवजीवन की विकासयात्रा अनिवार्य होती है। क्रमशः शारीरिक, मानसिक, भावनात्मक एवं चेतनात्मक यात्रा पूर्ण करते हुए मानवजीवन उस मौलिक सचेतन आत्मा तक जा पहुँचता है, जो सबका एक है। मानवजीवन की विकासयात्रा सार्वभौमिक मानवीयता को प्रतिष्ठित करने में समर्थ है, जिससे सबप्रकार के पारस्परिक द्वैत-द्वन्द्व समाप्त होते हैं। जंगली द्वैतदर्शन की समाप्ति का एकमात्र उपाय मानवजीवन की यह चार आयामी विकासयात्रा ही है।*

११) सृष्टि को संरक्षण *(Protection to Creation) :- मनुष्य सृष्टि का सर्वश्रेष्ठ प्राणी है। जैसे शरीर में शिर स्थित होकर सम्पूर्ण शरीर को चलाता है। ऐसे ही सृष्टि में मनुष्य शिर की भाँति स्थित होकर सम्पूर्ण सृष्टि को चलाता है। सृष्टि में जड़पदार्थ, वृक्षवनस्पति, पशुपक्षी इत्यादि तीनों संवर्ग मनुष्य के अधीन हैं। मनुष्य चाहे तो उनका विकास करे, और चाहे तो उनका विनाश करे। जैसे किसी मानवशरीर में शिर विक्षिप्त हो जाने पर सम्पूर्ण शरीर का विनाश करने लगता है। ऐसे ही सृष्टि में मनुष्य भी विक्षिप्त हो जाने पर सम्पूर्ण सृष्टि का विनाश करने लगता है। मानवजीवन की मूल्यवत्ता, महिमा, गरिमा सब कुछ मनुष्य की चार आयामी विकासयात्रा पर निर्भर है। यह विकासयात्रा ही मनुष्य को विक्षिप्तता से बचाती है एवं विवेकशील बनाती है। मनुष्य क्रमशः अविवेक से अल्पविवेक, अर्धविवेक, अधिविवेक, पूर्णविवेक की ओर बढ़ते हुए अपने विक्षेपों से मुक्त होता है। विक्षेपों से मुक्त होने के लिए विवेक तक के विकास की आवश्यकता है। विवेक तक पहुँचने के लिए मनुष्य को क्रमशः शारीरिक, मानसिक, भावनात्मक, चेतनात्मक क्षमताओं का विकास करना होता है। स्पष्ट है कि सृष्टि का संरक्षण एवं सदुपयोग मानवजीवन की विकासयात्रा पर निर्भर करता है।*

❀❀❀

पात्रतापरीक्षण *(Eligibility Test) :- मानवजीवनविकास के दार्शनिक सिद्धान्त के अनुसार मनुष्यों में चार प्रकार की क्षमताओं का विकास होता है– शारीरिक क्षमता **(PQ)**, मानसिक क्षमता **(IQ)**, भावनात्मक क्षमता **(EQ)**, चेतनात्मक क्षमता **(SQ)**। किन्तु इन चारों क्षमताओं को परीक्षण द्वारा ही प्रमाणित किया जा सकता है। परीक्षण के विना मनुष्यों में विकसित होनेवाली इन चारों क्षमताओं की वर्तमान दशा का वास्तविक अनुमान नहीं लगाया जा सकता। अतः क्षमतापरीक्षण के द्वारा ही मनुष्यों की वर्तमान पात्रता को प्रमाणित किया जाना चाहिए। समाज में कृषि, वाणिज्य, राज्य, नेतृत्व आदि चार प्रकार के कर्म होते हैं। इन चारों कर्मों के अनुसार ही कृषक, वणिक, रक्षक, नायक इत्यादि चार प्रकार के पदों का न्यायोचित निर्धारण होता है। इन चारों पदों पर पात्रतानुसार नियुक्ति की न्यायशील व्यवस्था ही सामाजिक सभ्यता का लक्षण है। एक न्यायशील सामाजिक व्यवस्था में क्षमतानुसार पात्रता, पात्रतानुसार कर्म, कर्मानुसार पद, पदानुसार सम्पदा का स्वामित्व निर्धारित होता है। इसी उद्देश्य की पूर्ति हेतु मानवीय क्षमताओं की विकसित अवस्था का परीक्षण आयोजित किया जाना चाहिए।*

पात्रतापरीक्षण के उपाय *(Techniques of Eligibility Test) :- मनुष्यों की क्षमतानुसार सिद्ध पात्रता के परीक्षण की निम्नलिखित दो पद्धतियाँ हो सकती हैं :–*

क) विकसित क्षमता परीक्षण *(Developed Capability Test) :- शारीरिक, मानसिक, भावनात्मक, चेतनात्मक इत्यादि चारों मानवीय आयामों की विकसित क्षमताओं का परीक्षण निम्नलिखित रूप में किया जा सकता है :–*

१) शारीरिक क्षमता परीक्षण *(Physical Capability Test) :- कर्मेन्द्रियों, ज्ञानेन्द्रियों, आवेगों, विकारों इत्यादि तनचतुष्टय **(PQ)** की वर्तमान विकसित दशा को जानने के लिए शारीरिक क्षमता परीक्षण **(PQ Test)** की आवश्यकता होती है। ज्ञानात्मक एवं क्रियात्मक परीक्षणों द्वारा शारीरिक विकास के चारों घटकों का परीक्षण किया जा सकता है। वर्तमान शारीरिक क्षमताओं की प्रामाणिकता हेतु चिकित्सकीय परीक्षण आयोजित किये जा सकते हैं।*

चिकित्सकीय परीक्षणों द्वारा पाँचों कर्मेंद्रियों, पाँचों ज्ञानेंद्रियों, पाँचों आवेगों एवं पाँचों विकारों की वर्तमान दशा की जानकारी प्राप्त हो सकती है। तनश्चतुष्टय के चारों घटकों में पाँच–पाँच प्रकार की क्षमताओं का विकास होता है। इन समस्त शारीरिक क्षमताओं का परीक्षण ज्ञानात्मक एवं क्रियात्मक पद्धतियों ***(Theoretical & Practical Methods)*** *द्वारा सरलतापूर्वक किया जा सकता है।*

२) मानसिक क्षमता परीक्षण ***(Mental Capability Test) :-*** *मनश्चतुष्टय या अन्तश्चतुष्टय* ***(IQ)*** *की सामर्थ्य का परीक्षण ही मानसिक क्षमता परीक्षण* ***(IQ Test)*** *कहलाता है। मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार ही मनश्चतुष्टय अथवा अन्तश्चतुष्टय कहलाते हैं, जिनसे क्रमशः वाक्, बोध, स्मृति, स्वाभिमान का उदय होता है। मनश्चतुष्टय के चारों घटकों में पाँच–पाँच प्रकार की क्षमताओं का विकास होता है। इन समस्त मानसिक क्षमताओं का परीक्षण ज्ञानात्मक एवं क्रियात्मक पद्धतियों* ***(Theoretical & Practical Methods)*** *द्वारा सरलतापूर्वक किया जा सकता है।*

३) भावनात्मक क्षमता परीक्षण ***(Emotional Capability Test) :-*** *भावचतुष्टय* ***(EQ)*** *की वर्तमान विकसित दशा की प्रामाणिकता हेतु भावनात्मक क्षमता परीक्षण* ***(EQ Test)*** *की आवश्यकता होती है। भावचतुष्टय के अन्तर्गत संवेदना, साहस, श्रद्धा, सद्वृत्ति का समावेश होता है। इन चारों भावनात्मक घटकों में पाँच–पाँच प्रकार की क्षमताओं का विकास होता है। इन समस्त भावनात्मक क्षमताओं का परीक्षण ज्ञानात्मक एवं क्रियात्मक पद्धतियों* ***(Theoretical & Practical Methods)*** *द्वारा सरलतापूर्वक किया जा सकता है।*

४) चेतनात्मक क्षमता परीक्षण ***(Spiritual Capability Test) :-*** *चिद्चतुष्टय* ***(SQ)*** *की वर्तमान विकसित दशा की प्रामाणिकता हेतु चेतनात्मक क्षमता परीक्षण* ***(SQ Test)*** *की आवश्यकता होती है। चिद्चतुष्टय के अन्तर्गत विवेक, विस्तार, ध्यान, चैतन्य के रूप में चार घटकों का समावेश होता है। इन चारों चेतनात्मक घटकों में पाँच–पाँच प्रकार की क्षमताओं के विकास की संभावना होती है। इन समस्त चेतनात्मक क्षमताओं का परीक्षण ज्ञानात्मक एवं क्रियात्मक पद्धतियों* ***(Theoretical & Practical Methods)*** *द्वारा सरलतापूर्वक किया जा सकता है।*

ख) विकास के उपायों का परीक्षण ***(Test of Techniques of Development) :-*** *मानवजीवन के शारीरिक, मानसिक, भावनात्मक, चेतनात्मक आयामों के विकास में सहायक उपायों का परीक्षण निम्नलिखित रूप में किया जा सकता है :–*

१) चिकित्सकीय स्वास्थ्य परीक्षण ***(Medical Health Examination) :-*** *मनुष्य की वर्तमान शारीरिक क्षमता को प्रमाणित करने के लिए चिकित्सकीय परीक्षण अपनाया जा सकता है। किसी सुपात्र चिकित्सक के द्वारा शारीरिक चिकित्सा परीक्षण सम्पन्न हो सकता है, जिससे मनुष्यों के अंगों, इन्द्रियों, आवेगों, विकारों की वर्तमान दशा का वास्तविक ज्ञान हो सकता है। जन्म से वर्तमान समय तक का चिकित्सकीय रिकार्ड भी शारीरिक क्षमता परीक्षण में सहायक है। चिकित्सकीय परीक्षण हेतु शरीर के चार क्षेत्रों का निर्धारण किया जाता है– शिर, वक्ष, उदर, पैर। इन चारों क्षेत्रों का समुचित चिकित्सकीय परीक्षण ही शारीरिक क्षमता परीक्षण के लिए आवश्यक जानना चाहिए :–*

क) शिरक्षेत्रपरीक्षण *(Head Area Test) :- शीर्षप्रदेश में स्थित सभी अंगों का समुचित परीक्षण एवं स्वास्थ्य का प्रमाणीकरण।*

ख) वक्षक्षेत्रपरीक्षण *(Chest Area Test) :- हृदयप्रदेश में स्थित सभी अंगों का समुचित परीक्षण एवं स्वास्थ्य का प्रमाणीकरण।*

ग) उदरक्षेत्रपरीक्षण *(Stomach Area Test) :- कटिप्रदेश में स्थित सभी अंगों का समुचित परीक्षण एवं स्वास्थ्य का प्रमाणीकरण।*

घ) पैरक्षेत्रपरीक्षण *(Leg Area Test) :- पावप्रदेश में स्थित सभी अंगों का समुचित परीक्षण एवं स्वास्थ्य का प्रमाणीकरण।*

२) शैक्षणिक योग्यता परीक्षण *(Educational Qualification Examination) :-* *शैक्षणिक योग्यता परीक्षण के द्वारा मानसिक क्षमता को प्रमाणित किया जा सकता है। मनश्चतुष्टय के चारों आयाम मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार को विकसित करने के लिए क्रमशः भाषा, गणित, संज्ञान, दर्शन इत्यादि चार विषयों के शिक्षण की आवश्यकता होती है। इन चारों विषयों के द्वारा ही मनश्चतुष्टय का विकास अथवा परिष्कार संभव होता है। इन चारों विषयों का परीक्षण करके मनश्चतुष्टय की दशा का अनुमान सहजतापूर्वक लगाया जा सकता है। इन चारों विषयों का संक्षिप्त परिचय निम्नलिखित है :–*

क) भाषापरीक्षण *(Language Test) :- भाषाविषय के अन्तर्गत व्याकरण, गद्य, पद्य के ज्ञान का समुचित परीक्षण एवं तत्सम्बन्धी शैक्षणिक योग्यता का प्रमाणीकरण।*

ख) गणितपरीक्षण *(Mathematics Test) :- गणितविषय के अन्तर्गत अंकगणित, बीजगणित, रेखागणित के ज्ञान का समुचित परीक्षण एवं तत्सम्बन्धी शैक्षणिक योग्यता का प्रमाणीकरण।*

ग) संज्ञानपरीक्षण *(GK Test) :- संज्ञानविषय के अन्तर्गत नागरिकशास्त्र, पर्यावरणशास्त्र, परिघटनाशास्त्र के ज्ञान का समुचित परीक्षण एवं तत्सम्बन्धी शैक्षणिक योग्यता का प्रमाणीकरण।*

घ) दर्शनपरीक्षण *(Philosophy Test) :- दर्शनविषय के अन्तर्गत तत्त्वज्ञानशास्त्र, सिद्धान्तशास्त्र, व्यवस्थाशास्त्र के ज्ञान का समुचित परीक्षण एवं तत्सम्बन्धी शैक्षणिक योग्यता का प्रमाणीकरण।*

३) चारित्रिक गुणवत्ता परीक्षण *(Character Quality Examination) :- चारित्रिक गुणवत्ता मनुष्यों की भावनात्मक क्षमता को प्रभावित करती है। मानवजीवनविकासक्रम में तृतीय आयाम का विकास होने पर भावनात्मक क्षमता का उदय होता है। प्रकृति ही स्वभाव की जननी है। प्राकृतिक गुण ही भावनाओं के रूप में अभिव्यक्त होते हैं। प्रकृति त्रिगुणमयी है– सात्त्विक, राजस, तामस। शुभ प्रकृति को 'सात्त्विक' कहते हैं, अशुभ प्रकृति को 'तामस' कहते हैं एवं मध्यम व मिश्रित प्रकृति को 'राजस' कहते हैं। प्रारम्भिक रूप से सभी मनुष्यों में तामस प्रकृति संभावित होती है। जैसे–जैसे सात्त्विक गुणों की वृद्धि होती है, वैसे–वैसे तामस प्रकृति क्षीण होने लगती है। मनुष्यों के आहार–विहार, वेश–भूषा, रहन–सहन, प्रथा–परम्परा इत्यादि की वर्तमान दशा का परीक्षण करके भावनात्मक क्षमता का वास्तविक ज्ञान हो सकता है। सुसांस्कृतिक परिवेश में सत्त्वगुण के संस्कार ही बनते हैं। कुसांस्कृतिक वातावरण में तामसिक गुणों व दोषों की ही वृद्धि होती है। व्यक्तिगत विवरणों के अतिरिक्त माता–पिता, शिक्षकों, गुरुजनों, मित्रों,*

सहकर्मियों, पड़ोसियों, स्थानीय शासन, प्रशासन, पुलिस एवं न्यायालय द्वारा प्रस्तुत चारित्रिक विवरणों से वर्तमान गुणदशा का प्रमाणीकरण सरलतापूर्वक किया जा सकता है। चारित्रिक गुणवत्तापरीक्षण का संक्षिप्त परिचय निम्नलिखित है :–

***क) आहार-विहार परीक्षण** (Eating-Enjoying Test) :- खान–पान, खेल–व्यायाम, विलास–विश्राम, बोल–चाल इत्यादि क्रियाविधियों की गुणवत्ता का परीक्षण।*

***ख) वेशभूषा परीक्षण** (Dressing-Jewelling Test) :- वस्त्रों, आभूषणों, उपयोगी वस्तुओं एवं अन्य तत्त्वों की गुणवत्ता का परीक्षण।*

***ग) रहन-सहन परीक्षण** (Dwelling-Maintaining Test) :- आवास, यन्त्रोपकरण, पर्यावरण एवं आर्थिक आय–व्यय की गुणवत्ता का परीक्षण।*

***घ) प्रथा-परम्परा परीक्षण** (Tradition-Convention Test) :- उत्सव, उपासना, साधना, अनुष्ठान आदि की गुणवत्ता का परीक्षण।*

***४) प्रशिक्षित कौशल परीक्षण** (Trained Skill Examination) :- शिक्षण द्वारा बद्धता हुआ कौशल चेतनात्मक क्षमता (SQ) के विकास में सहायक है। कौशलवृद्धि के चार आयाम हो सकते हैं– कर्मकौशल, कलाकौशल, व्यवहारकौशल, अध्यात्मकौशल। कौशल से चेतना एवं चेतना से कौशल का सीधा सम्बन्ध है। मानवसमाज में चार प्रकार के कर्म होते हैं– कृषि, वाणिज्य, राज्य, नेतृत्व। ऐसे ही साहित्य, संगीत, खेल एवं अन्य क्षेत्रों में अनेक प्रकार की कलाओं का समावेश होता है। इसी प्रकार सम्पर्क, सम्बन्ध, संघ, मैत्री आदि क्षेत्रों में व्यवहारकौशल का समावेश होता है तथा अध्यात्मकौशल के अन्तर्गत ध्यान, योग आदि क्षेत्रों में अर्जित सिद्धियों का समावेश होता है। इन चारों प्रकार के कौशलों द्वारा ही चेतनात्मक दशा का परीक्षण होता है। कर्मकौशल ही प्रधान है। उक्ति प्रसिद्ध है–कर्मों का कौशल ही योग है–'**योगः कर्मसु कौशलम्**' अचेतन (प्राकृत) अथवा सचेतन (संस्कृत) दोनों ही रूपों में चेतना जितनी गहन अथवा उच्च होती है, उतनी ही कुशलतापूर्वक कर्मों का सम्पादन करना संभव होता है। कृषि, वाणिज्य, राज्य, नेतृत्व इत्यादि चारों कर्मों का कौशल चेतनात्मक विकास में सहायक है। यद्यपि चेतना की बद्ध और मुक्त दशाओं का भेद जानना भी आवश्यक है। कुशलतापूर्वक किये जानेवाले कर्मों से चेतनज्योति प्रदीप्त होती है। कर्मों का कौशल चेतनात्मक विकास में सहायक है। अतः कर्मकौशल की वर्तमान दशा द्वारा चेतनात्मक विकास के स्तर का ज्ञान एवं प्रमाणन किया जा सकता है। कर्म जितना अधिक कुशलतापूर्वक क्रिया जाता है, आत्मचेतना उतनी अधिक प्रदीप्त होती है। कर्मकौशल परीक्षण का संक्षिप्त परिचय निम्नलिखित है :–*

***क) कृषिकौशल परीक्षण** (Agro Skill Test) :- खेती, उद्यान, पशुपालन एवं उत्पादनप्रबन्ध इत्यादि कृषिकर्मों के कौशल का समुचित परीक्षण।*

***ख) वाणिज्यकौशल परीक्षण** (Commerce Skill Test) :- व्यापार, उद्योग, व्यवसाय एवं लाभप्रबन्ध इत्यादि वाणिज्यकर्मों के कौशल का समुचित परीक्षण।*

***ग) राज्यकौशल परीक्षण** (Service Skill Test) :- प्रशासन, राजस्वार्जन, लोकपालन एवं वेतनप्रबन्ध इत्यादि राज्यकर्मों के कौशल का समुचित परीक्षण।*

***घ) नेतृत्वकौशल परीक्षण** (Leadership Skill Test) :- विधायन, मन्त्रित्व, न्याय एवं भत्ताप्रबन्ध इत्यादि नेतृत्वकर्मों के कौशल का समुचित परीक्षण।*

पात्रतापरीक्षण की पद्धति (Method of Eligibility Test) :- *मनुष्यों में विकसित चारों प्रकार की क्षमताओं के आधार पर पात्रतापरीक्षण की निम्नलिखित दो पद्धतियाँ हो सकती हैं :–*

क) ज्ञानात्मक परीक्षण पद्धति (Theoretical Test Method) :- *मानवजीवनविकास की यात्रा द्वारा विकसित चारों मानवीय क्षमताओं का ज्ञानात्मक परीक्षण भी किया जा सकता है। ज्ञानात्मक परीक्षणपद्धति में लिखित एवं मौखिक परीक्षा ली जा सकती है। इसके द्वारा विकसित केन्द्रों की विविध क्षमताओं की वर्तमान दशा पर प्रश्न किये जा सकते हैं और उनके उत्तरों द्वारा मनुष्यों की वर्तमान दशा का प्राथमिक परिचय प्राप्त किया जा सकता है। इस प्राथमिक परिचय को प्रमाणित करने के लिए प्रायोग भी सहायक होता है।*

ख) प्रायोगिक परीक्षण पद्धति (Practical Test Method) :- *मानवीय क्षमताओं के परीक्षण हेतु जो क्रियात्मक परीक्षण किया जाता है, उसे ही प्रायोगिक परीक्षणपद्धति कहते हैं। शारीरिक, मानसिक, भावनात्मक, चेतनात्मक इत्यादि चारों मानवीय क्षमताओं **(PQ-IQ-EQ-SQ)** का क्रियात्मक परीक्षण करने के लिए उन–उन क्षमताओं से सम्बन्धित कार्यों को प्रायोगिक रूप से सम्पन्न करवाकर देखा जा सकता है। परीक्षार्थी को तद्सम्बन्धी कार्य में संलग्न करके उसके द्वारा किये गए कार्यसम्पादन के आधार पर विकसित क्षमताओं को प्रमाणित किया जा सकता है। इससे कार्यसम्पादन की सामर्थ्य का स्पष्ट परिचय प्राप्त हो जायेगा। ज्ञानात्मक परीक्षण के पश्चात् यह क्रियात्मक परीक्षण बहुत ही महत्त्वपूर्ण है।*

पात्रता प्रमाणीकरण (Eligibility Certification) :- *मानवीय जीवनविकास के उपायों द्वारा विकसित मानवीय क्षमताओं के परीक्षणों के अनुरूप सिद्ध पात्रताओं का प्रमाणीकरण किया जा सकता है। प्रत्येक व्यक्ति को समुचित परीक्षणपद्धति द्वारा सम्यक्रूपेण परीक्षण करके न्यायोचित प्रमाणपत्र प्रदान किया जा सकता है। इससे उस व्यक्ति के व्यक्तित्व का स्पष्ट एवं प्रामाणिक परिचय सम्पूर्ण समाज को सुलभ हो सकेगा और तदनुसार कर्म, पद, सम्पदा का वितरण भी सरलतापूर्वक किया जा सकेगा। तदनुसार ही समाज में उनका आदर, मान, महत्त्व प्रतिष्ठित होता है। न्यायपूर्वक अधिकृत संस्थान द्वारा पात्रतापरीक्षण एवं प्रमाणन की प्रक्रिया अपनायी जानी चाहिए, ताकि उसकी सर्वस्वीकार्यता सिद्ध हो सके। न्याय से सहमत सभी मनुष्यों का एक समाज माना जाये। ऐसे समाज में क्षमतानुसार पात्रता, पात्रतानुसार कर्म, कर्मानुसार पद, पदानुसार सम्पदा पर स्वामित्व की न्यायशील व्यवस्था प्रतिष्ठित हो। जो लोग भी इस न्यायशील पात्रतामूलक वरीयताक्रम पर आधारित व्यवस्था से सहमत हों, उन्हें इस मानवीय समाज की सदस्यता प्रदान करी जाये। ऐसी ही न्यायशील राष्ट्रीय व्यवस्था भी प्रतिष्ठित हो, जिसमें पात्रतामूलक वरीयताक्रम पर आधारित नागरिकता प्रशस्त हो। पात्रता की प्रामाणिकता द्वारा ही किसी समाज की सदस्यता अथवा राष्ट्र की नागरिकता उपलब्ध हो। प्रमाणित पात्रता के विना किसी भी व्यक्ति की नियुक्ति द्वारा किसी भी कर्म–पद–सम्पदा की गरिमा, महिमा एवं उपयोगिता सुरक्षित नहीं रह सकती तथा समाज की सामाजिकता एवं राष्ट्र की राष्ट्रीयता, संविधान की सम्वैधानिकता न्यायोचित नहीं रह सकती। अतः पदनियोजन हेतु पात्रतापरीक्षण एवं प्रमाणन अनिवार्य है।*

वरीयताक्रम प्रतिष्ठापन (Merit Sequence Establishment) :- *मानवीय समाज में प्रत्येक व्यक्ति को प्रथम 25 वर्ष की आयु तक विद्यार्थीजीवन घोषित किया जाये, तथा इस अवधि में*

विद्यार्जन को अनिवार्य कर्तव्य माना जाये। इस 25 वर्षीय अवधि को पात्रता के विकास का अवसर घोषित किया जाये। शारीरिक, मानसिक, भावनात्मक, चेतनात्मक विकास के सभी प्रयोगों के समस्त अवसर एवं उपाय समस्त नागरिकों को समुचित रूप से सुलभ कराये जायें। प्रथम 20 वर्ष की आयु तक शिक्षणकाल माना जाये, उसके पश्चात् 25 वर्ष की आयु तक पंचवर्षीय प्रशिक्षण पाठ्यक्रम लागू किया जाये, जिससे कि आवश्यक कर्मकौशल भी अर्जित किया जा सके। वरीयताक्रम का निर्धारण इस प्रशिक्षण पाठ्यक्रम में प्रवेश हेतु अनिवार्य माना जाये। अतः वरीयताक्रम के निर्धारण हेतु मनुष्यों की 20 वर्ष की आयु तक विकसित हो चुकी चारों क्षमताओं का क्रमबद्ध परीक्षण आयोजित किया जाये।

***वरीयताक्रम का निर्धारण** (Prescription of Merit Sequence) :- सभी मनुष्यों में क्रमशः चार प्रकार की क्षमताओं की संभावना होती है– शारीरिक, मानसिक, भावनात्मक, चेतनात्मक। इन चारों क्षमताओं के अनुरूप ही क्रमशः चार प्रकार की वरीयतायें निर्धारित होती हैं– साधारण, मध्यम, उच्च, सर्वोच्च। किस व्यक्ति में किस–किस क्षमता का विकास हो चुका है, इसके लिए समुचित पात्रतापरीक्षण की प्रक्रिया द्वारा उसकी वर्तमान दशा का ज्ञान किया जा सकता है। परीक्षित एवं सुसिद्ध पात्रता के अनुरूप ही वरीयताक्रम निम्नलिखित रूप में प्रदान किया जा सकता है :–*

***१) शारीरिक क्षमता को साधारण वरीयता** (General Merit to PQ) :- शरीर जन्मतः सभी मनुष्यों को प्राप्त हो जाता है तथा साधारण प्रयत्नों द्वारा इसे विकसित भी किया जा सकता है। शारीरिक क्षमता द्वारा साधारण कार्यों का ही सम्पादन संभव होता है। अतः शारीरिक क्षमता को साधारण वरीयता प्रदान करी जाती है। साधारण वरीयता निम्न एवं प्रारम्भिक होती है। यह मानवजीवनविकासयात्रा का प्रारम्भिक सोपान है, प्राथमिक सीढ़ी है। मानवसमाज के कल्पित भवन में मानवीय शरीर को 'नींव' या 'फर्श' कहा जा सकता है।*

***२) मानसिक क्षमता को मध्यम वरीयता** (Medium Merit to IQ) :- मानसिक क्षमता मानवजीवनविकास के द्वितीय आयाम में प्रतिष्ठित होती है, जो इन्द्रियों पर नियन्त्रण रखती है। इन्द्रियों पर मन का शासन है। मन में मननशक्ति का उदय ही मानसिक विकास है। मानसिक विकास की उपलब्धि विशेष प्रयत्नों द्वारा ही संभव होती है। सभी मनुष्यों को अपना मानसिक विकास करने के लिए शिक्षण–प्रशिक्षण के विशिष्ट प्रयत्न दीर्घकाल तक करने होते हैं। मानसिक क्षमता द्वारा विशेष मानसिक कार्यों का सम्पादन भी किया जा सकता है। जो शारीरिक क्षमताओं द्वारा संभव नहीं होता। अतः मानसिक क्षमता को मध्यम वरीयता प्रदान करी जाती है। मानसिक क्षमता क्रमशः शारीरिक क्षमता के पश्चात् ही विकसित होती है। अतः मानवसमाज के कल्पित भवन में मानसिक क्षमता को 'दीवार' कहा जा सकता है।*

***३) भावनात्मक क्षमता को उच्च वरीयता** (High Merit to EQ) :- भावनात्मक क्षमता मानवजीवनविकास के तृतीय आयाम में प्रतिष्ठित होती है, जो इन्द्रियों और मन पर भी नियन्त्रण रखती है। इन्द्रियों पर मन एवं मन पर प्राण का शासन है। प्राण की तरंगों के प्रवाह की सामर्थ्य का उदय ही भावनात्मक विकास है। भावनात्मक विकास की उपलब्धि अतिविशेष प्रयत्नों द्वारा ही संभव होती है। सभी मनुष्यों को अपना भावनात्मक विकास करने के लिए समुचित आचार–व्यवहार द्वारा प्राकृतिक गुणों के उत्थान हेतु अतिविशिष्ट प्रयत्न दीर्घकाल तक करने होते हैं। भावनात्मक क्षमता द्वारा विशेष भावनात्मक कार्यों का सम्पादन भी किया जा सकता है, जो*

शारीरिक और मानसिक क्षमता वालों के लिए कठिन होता है। अतः भावनात्मक क्षमता को शारीरिक और मानसिक क्षमताओं से भी ऊपर रखते हुए उच्च वरीयता प्रदान करी जाती है। भावनात्मक क्षमता क्रमशः शारीरिक एवं मानसिक क्षमता के पश्चात् ही विकसित होती है। अतः मानवसमाज के कल्पित भवन में भावनात्मक क्षमता को 'छत' या 'क्षत्र' कहा जा सकता है।

४) चेतनात्मक क्षमता को सर्वोच्च वरीयता (Highest Merit to SQ) :- *चेतनात्मक क्षमता मानवजीवनविकास के चतुर्थ आयाम में प्रतिष्ठित होती है, जो इन्द्रियों, मन और प्राण पर भी नियन्त्रण रखती है। इन्द्रियों पर मन का, मन पर प्राण का एवं प्राण पर आत्मचेतना शासन है। आत्मा की चिद्शक्ति का उदय ही चेतनात्मक विकास है। चेतनात्मक विकास की उपलब्धि सर्वोच्च प्रयत्नों द्वारा ही संभव होती है। सभी मनुष्यों को अपना चेतनात्मक विकास करने के लिए समुचित उपासना–साधना द्वारा आत्मिक उत्थान हेतु सर्वोच्च प्रयत्न दीर्घकाल तक करने होते हैं। चेतनात्मक क्षमता द्वारा सर्वोत्कृष्ट चेतनात्मक कार्यों का सम्पादन भी किया जा सकता है, जो शारीरिक, मानसिक और भावनात्मक क्षमता वालों के लिए कठिन होता है। अतः चेतनात्मक क्षमता को शारीरिक, मानसिक और भावनात्मक क्षमताओं से भी ऊपर रखते हुए सर्वोच्च वरीयता प्रदान करी जाती है। उच्चतर क्षमताओं के विकास से निम्नतर क्षमतायें समाप्त नहीं हो जाती। यद्यपि उच्च क्षमताओं के विकसित होने पर निम्नतर क्षमताओं की उपयोगिता और महत्त्व अवश्य कम हो जाता है। अतः उच्चतर विकसित व्यक्ति में निम्नतर क्षमताओं की गतिशीलता कम हो जाती है। किन्तु निम्न क्षमतायें पूर्णतः कभी समाप्त नहीं होती। चेतनात्मक क्षमता क्रमशः शारीरिक, मानसिक एवं भावनात्मक क्षमता के पश्चात् ही विकसित होती है। अतः मानवसमाज के कल्पित भवन में चेतनात्मक क्षमता को 'मुंडेर' या 'द्वार' कहा जा सकता है।*

अवरीयता का प्रतिपादन (Prescription of Non-Merit) :- *चारों मानवीय वरीयताओं से पतित होकर प्राकृतिक पशुतुल्य जीवनयापन करनेवाले व्यक्ति जंगली प्रवृत्ति के होते हैं। निषिद्ध आचार–व्यवहार के कारण समाज में उनका प्रवेश निषिद्ध रहता है। उन्हें वरीयताक्रम से बाहर प्रतिष्ठित किया जाता है। इसीलिए वे अवरीय अथवा अवरेण्य कहलाते हैं। उन्हें किसी भी कार्य के लिए वरण नहीं किया जा सकता, नियुक्त नहीं किया जा सकता। वे समाज व राष्ट्र की सीमारेखा से बाहर होते हैं। उनमें सामाजिकता के लक्षण नहीं होते। उनकी इन्द्रियाँ, मन, प्राण एवं आत्मचेतना विक्षेपों द्वारा आच्छादित रहती है। अतः उन्हें विक्षिप्त अथवा पागल कहा जाता है। वे रुग्ण होते हैं। उन्हें मनोरोग से ग्रस्त पाया जाता है। वे अपनी ही आदतों, इच्छाओं, आकांक्षाओं, वृत्तियों, विक्षेपों के दास होते हैं। अतः ये बाह्य अनुशासन स्वीकार नहीं कर पाते। इन्हें किसी भी बाहरी वैयक्तिक, पारिवारिक, सामाजिक, राष्ट्रीय अनुशासन स्वीकार्य नहीं होता। ये सदैव दूसरों के प्रति आक्रामक बने रहते हैं। दंभ, द्वेष, ईर्ष्या, दस्युता, द्रोह इत्यादि पंचदोषों से ग्रस्त होकर वे दूषित आचरण एवं दूषित व्यवहार करते हैं। दुष्ट होने के कारण ही दुराचार एवं दुर्व्यवहार में इनकी स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है। इसलिए इन्हें ही दुष्ट और दुर्जन कहा जाता है। दोषों से प्रेरित होकर ही ये सब प्रकार के अपराध करते हैं। दूसरों की सीमारेखा में अनधिकृत प्रवेश करके दूसरों के न्यायोचित हितों को क्षति पहुँचाने की चेष्टा ही अपराध है। इनकी इन्द्रियाँ, मन, प्राण, आत्मा इत्यादि चारों मानवीय केन्द्र दूषित, प्राकृत एवं विक्षिप्त होकर जंगली पशुओं की भाँति व्यवहृत होते हैं। मानवीय न्याय–अन्याय, हित–अहित, उचित–अनुचित, शुभ–अशुभ व्यवहारों का बोध इन्हें नहीं होता। मनुष्यरूपधारी पशुतुल्य जीव ये पंचम मनुष्य ही अवरीय होते हैं। इन्हें अन्त्यज एवं निषिद्ध कहा जाता है। ये स्ववृत्तिमुग्ध एवं मनोरोगी होते हैं। अपनी असैद्धान्तिक मान्यताओं पर मुग्धता ही मनोरोग है।*

लम्बी मनोवैज्ञानिक चिकित्सा के द्वारा इन्हें शुद्ध भी किया जा सकता है। शुद्ध होने पर इन्हें सामाजिक वरीयताक्रम में क्रमशः कृषकादि पदों पर नीचे से प्रवेश दिया जा सकता है। भविष्य में इनके शुभ लक्षणों के आधार पर प्रोन्नत होने का भी न्यायोचित अवसर उन्हें सुलभ कराया जा सकता है।

अवरीय व्यक्तियों के लक्षण (Characteristics of Ineligible Persons) :- *अपनी चारों क्षमताओं क्रियाशक्ति (PQ), विचारशक्ति (IQ), भावशक्ति (EQ), चिद्शक्ति (SQ) का दुरुपयोग करनेवाले व्यक्ति अवरीय एवं अपात्र होते हैं। मानवीय समाज में इनका प्रवेश एवं निवास निषिद्ध होता है। अतः ये परित्याज्य माने जाते हैं। ये किसी भी शुभ कर्म–पद–सम्पदा के स्वामित्व हेतु असमर्थ एवं अपात्र होते हैं। इन्हें अन्त्यज, बहिष्कृत, निष्कासित कहा जाता है। ये आपराधिक प्रवृत्ति के होते हैं। अवसर मिलते ही ये अपराध कर बैठते हैं। केवल भय के द्वारा ही ये नियन्त्रित रहते हैं। ऐसे अवरीय एवं अपात्र व्यक्तियों के प्रमुख लक्षण निम्नलिखित हैं। ये इन लक्षणों द्वारा ही इन अवरीय व्यक्तियों की पहचान सरलतापूर्वक करी जा सकती है :–*

१) विक्षिप्तता (Madness) :- *इनके विवेक पर विक्षेप की छाया होती है। विवेकरूपी सूर्य विक्षेपरूपी बादलों से आच्छादित होने के कारण इनकी चेतना का प्रकाश ढक जाता है। बुद्धिमान होते हुए भी इनमें बुद्धिहीनता एवं पशुता के लक्षण दिखाई देते हैं। दोषयुक्त होने के कारण इनके कर्म दुष्कर्म हो जाते हैं, विचार दुर्विचार हो जाते हैं, भाव दुर्भाव हो जाते हैं, चेतना दुष्चेतना हो जाती है। दुर्विक्षेप की छाया जैसे–जैसे गहन होती जाती है, वैसे–वैसे बुद्धि का प्रकाश क्षीण होता जाता है। अतः इनकी आत्मा पर इनकी आदत का शासन प्रतिष्ठित हो जाता है। ये अपनी आदतों, चाहतों, इच्छाओं, आकांक्षाओं के दास हो जाते हैं। ये किसी सैद्धान्तिक नियम, नीति, निर्णय का पालन नहीं कर पाते, अपने मान्यतावादी दृष्टिकोण पर ही टिके रहते हैं। इनके हृदय में अनेक प्रकार की दुर्ग्रन्थियाँ निर्मित हो जाती हैं। दोषों, ग्रन्थियों एवं विक्षेपों से ग्रस्त होने के कारण ही इनमें विक्षिप्तता के लक्षण पाये जाते हैं।*

२) परजीविता (Paracitism) :- *व्याजखोरी, चोरी, लूट, डकैती, धोखाधड़ी, हेराफेरी, जालसाजी, परपीड़न इत्यादि के द्वारा दूसरों की धनसम्पत्ति के अपहरण की इनमें प्रवृत्ति होती है। ये स्वयं उपार्जनशील नहीं होते। अतः अपहरणशीलता के द्वारा ही ये अपना जीवनयापन करते हैं। दूसरों के द्वारा उपार्जित धनसम्पत्ति को दल, बल, छलपूर्वक छीनकर अपने अधीन कर लेते हैं और उसका दुरुपयोग और दुर्भोग करते हुए अनर्गल जीवन जीते हैं। ये सिंह, शृगाल, भेड़िया, मगरमच्छ, घड़ियाल, सर्प, चमगादड़, उल्लू जैसे निशाचर प्रवृत्ति के प्राणी होते हैं। ये दूसरे जीवों को मारकर अपना पेट भरने का प्रयास करते हैं। अपने से कमजोर का शिकार करके उसे भक्षण कर जाते हैं। अजगरोदर होकर ये परभक्षण हेतु यहाँ–वहाँ विचरण करते रहते हैं अथवा कहीं गोपनीय स्थान पर घात लगाये बैठे रहते हैं।*

३) आक्रामकता (Aggressiveness) :- *दूसरों के अधिकारक्षेत्र में बलात् प्रवेश ही आक्रमण कहलाता है। दुर्बुद्धिवश दूसरों को स्वयं से भिन्न मानकर भय की अनुभूति करने के कारण आक्रामकता उत्पन्न होती है। आत्मीयता एवं अपनत्व के अभाव में स्थित व्यक्ति ही आक्रामक होते हैं। आक्रामकता भी अवरीयता का प्रमुख लक्षण है। अतः ये स्वभाववश धूर्त एवं शिकारी प्रवृत्ति के होते हैं। अपेक्षाकृत निर्बल एवं असावधान व्यक्तियों पर वे आक्रमण करते रहते हैं। ये अपात्र होकर भी उच्चतर पदों पर दल, बल, छल पूर्वक कब्जा करने की कुचेष्टा करते रहते हैं। विना माँगे ही दूसरों को सलाह और आदेश देने को सदैव आतुर रहते हैं। ये दूसरों की सहमति के विना ही उनके अधिकारक्षेत्र में प्रवेश करते हैं।*

४) क्रूरता (Cruelty) :- *दुर्बुद्धि के कारण दूसरों के साथ सम्बन्ध की अनुभूति नहीं होती। सम्बन्धों की अनुभूति के विना हृदय में संवेदनशीलता उत्पन्न नहीं होती। संवेदना की अनुपस्थिति में व्यक्ति क्रूर हो जाता है। कुंठित भावनाओं में क्रूरता के लक्षण पाये जाते हैं। क्रूर व्यक्तियों में दया, करुणा इत्यादि लक्षण नहीं पाये जाते। इनके आचार–व्यवहार में कठोरता, क्रूरता एवं धूर्तता ही विद्यमान रहती है। ये पररक्षक नहीं, परभक्षक होते हैं। अत्यन्तिम क्रूर होने पर ये स्वयं को भी उत्पीड़ित करने लगते हैं। क्रूरता के कारण ही इनमें मांसाहार की प्रवृत्ति अत्यन्त प्रबल हो जाती है। प्रेमजनित श्वेत दुग्ध इन्हें प्रिय नहीं लगता, बल्कि पीड़ाजनित लाल रक्त पीकर ये तृप्त होते हैं। किसी के महान् कष्ट पर भी ये द्रवित नहीं होते।*

५) हठधर्मिता (Obstinacy) :- *दुर्जन लोग हठधर्मी होते हैं। दुराग्रह अथवा जिद को ही 'हठ' कहते हैं। हठी, दुराग्रही अथवा जिद्दी लोग अपनी गलत बातों पर भी अड़े रहते हैं। इनमें सरलता, विनम्रता, उदारता, दयालुता, सेवापरायणता के लक्षण नहीं पाये जाते। ये कठिन, जटिल एवं संकीर्ण प्रवृत्ति के होते हैं। प्रायः असत् विचार पर ही इनकी निष्ठा होती है। ज्ञान–विज्ञान द्वारा प्रमाणित सत्यात्मक सुतर्कों एवं सिद्धान्तों से हटकर ये कुतर्कों, कल्पनाओं और मान्यताओं को ही महत्त्व देते हैं। इनके स्वभाव में शठता, कठता, हठता निरन्तर विद्यमान रहती है। ये आत्मोद्धार के लिए हठयोग एवं आत्मनाश के लिए कल्याणयोग का मार्ग अपनाते हैं। नशीले पदार्थों अथवा कुमद्य को ही 'कल्य' कहते हैं। 'कल्य' का सेवन करने पर ही इन्हें 'कल्याण' प्राप्त होता है।*

६) दुष्टता (Evilness) :- *पाँचवे प्रकार के व्यक्ति दुष्ट होते हैं। दोष भी पाँच प्रकार के होते हैं– दम्भ, द्वेष, ईर्ष्या, दस्युता, द्रोह। इन पंचदोषों से ग्रस्त व्यक्ति ही 'दुष्ट' कहलाते हैं। दुष्टों को ही 'दुर्जन' कहा जाता है। मन में दुर्ज्ञान के कारण मानवीय स्वभाव दोषयुक्त हो जाता है अथवा दूषित संस्कृति में पलने, बढ़ने, रहने के कारण मनुष्यों के हृदय में पंचदोष प्रतिष्ठित हो जाते हैं। इन पंचदोषों को दुर्गुण भी कहा जाता है। पंचदोषों ही प्रेरणा से ही मनुष्यों में दुराचार एवं दुर्व्यवहार उत्पन्न होता है तथा दुराचार एवं दुर्व्यवहार से पंचदोषों की वृद्धि होती है। पंचदोष से ग्रस्त होने पर व्यक्ति के कर्म दुष्कर्म हो जाते हैं, बुद्धि दुर्बुद्धि हो जाते हैं, मान्यतायें दुर्मान्यतायें हो जाती हैं, आत्मा दुरात्मा हो जाती है। दुष्टता को भी अवरीय व्यक्तियों का लक्षण माना जाता है।*

७) आपराधिकता (Criminality) :- *दुष्ट लोग पंचअपराधों में ही प्रवृत्त रहते हैं। अपराध पाँच प्रकार के होते हैं– अपमान, अपकार, अपहिंसा, अपहरण, अपबन्ध। दम्भ, द्वेष, ईर्ष्या, दस्युता, द्रोह इत्यादि पंचदोषों की प्रेरणा से ही आपराधिक घटनायें होती हैं। दुष्ट हुए विना कोई अपराधी नहीं हो सकता। यदि सज्जनों द्वारा कोई अपराध हो, तो यही समझना चाहिए कि उन्होंने अपराध अनजाने में किया होगा अथवा विवश होकर किया होगा। किन्तु दुर्जन लोग तो स्वाभाविक रूप से ही अपराधी होते हैं। अतः आपराधिकता को अवरीय व्यक्तियों का प्रमुख लक्षण माना जाता है।*

८) दैत्यता (Demonity) :- *दुष्ट लोगों में सिंहों, भेड़ियों, श्रृगालों, मगरमच्छों, कोबरों जैसी कुहिंसात्मक पशुओं की प्रवृत्ति होती है। मानवशरीर में ही ये दानव अथवा दैत्य होते हैं। ये वास्तव में पशुतुल्य, असभ्य, जंगली एवं असामाजिक प्राणी होते हैं। इनमें सामाजिक सभ्यता नहीं पायी जाती। 'जियो और जीनें दो' का न्यायशील उद्घोष इन्हें नहीं रुचता। 'मरो और मारो' –ऐसा उद्घोष ही इन्हें प्रिय लगता है। ये परपीड़क होने के साथ–साथ स्वयं को भी उत्पीड़ित करते रहते हैं। ये सदैव दुराचार एवं दुर्व्यवहार में संलग्न रहते हैं। 'सत्–सिद्धान्त' को त्यागकर ये 'दुष्–सिद्धान्त' को अपना आधार मानते हैं। दुर्नियम, दुर्नीति एवं दुर्निणय पर आधारित विषमतामूलक दुर्विधान इन्हें प्रिय लगता है। ऐसे अन्यायपूर्ण जंगली विधान पर आधारित भयंकर जंगली सभ्यता ही इनका आदर्श होती है। अपशब्द,*

कुशब्द, गाली, गलौज ही इनकी वाणी के आभूषण होते हैं। इनकी दृष्टि वेधक होती है। फूल के स्थान पर शूल ही इनका शृंगार होता है। सहज हँसी एवं मुस्कान के स्थान पर ये अट्टहास करते हैं, अटक–अटक कर हँसते हैं। ये वास्तव में कभी प्रसन्न और सुखी नहीं हो पाते, बल्कि सदैव खिन्न और दुःखी रहते हैं। नुकीली, शूलयुक्त घातक वस्तु, चित्र, संकेत ही इन्हें प्रिय लगते हैं। द्वैतबुद्धि के कारण दूसरों से भयवश ये सदैव शंका, संदेह, संशय से घिरे रहते हैं। ये किसी के भी वास्तविक मित्र नहीं बन पाते। ये सबके प्रति अनिवार्यतः शत्रुता ही धारण किये रहते हैं। अपने स्वार्थपूर्ति हेतु कूटनैतिक कारणों से ही ये पाखण्डवश दूसरों की सहायता करते हैं।

***९) अभावबोध** (Scarcity Feeling) :- दुर्जनों में सदैव अभावबोध बना रहता है। अतः ये संग्रही एवं अतिपरिग्रही होते हैं। प्रत्येक मूल्यवान् वस्तु पर ये सदैव अपना कब्जा जमाने को आतुर रहते हैं। बहुत सी सम्पदाओं को एकत्रित करके भी ये असंतुष्ट रहते हैं। बहुत से दुर्भोगों को भोगते हुए भी ये अतृप्त रहते हैं। सुखद वातावरण में भी ये दुःखी एवं चिड़चिड़े रहते हैं। सम्मानयुक्त स्थान पर भी ये अपमानित अनुभव करते हैं। समृद्धि में भी दरिद्र जैसे संकीर्ण रहते हैं। परमवैभव भी इनकी दीनता को समाप्त नहीं कर पाता। सम्पत्तियों पर स्वामित्व के स्थान पर ये सम्पत्तियों के दास हो जाते हैं। ये लक्ष्मी के अधिपति नहीं, बल्कि उल्लू की भाँति लक्ष्मी के वाहन हो जाते हैं। सत्त्वगुण की अनुपस्थिति के कारण इन्हें किंचित् भी प्रभुत्व, ईश्वरत्व, स्वामित्व की अनुभूति अथवा प्रभावबोध नहीं होता। ये तमसाच्छादित होकर निरन्तर अभावबोध से ग्रस्त बने रहते हैं। सब कुछ प्राप्त होने पर भी इन्हें कुछ भी प्राप्त नहीं हो पाता। संसार की सभी वस्तुओं, सम्पदाओं, व्यक्तियों पर ये अपना कब्जा व अधिपत्य जमाने की निरन्तर चेष्टा करते रहते हैं। दूसरों को लूटकर ही स्वयं की समृद्धि संभव मानने के कारण ये दूसरों के साथ सदैव दुश्मनी या शत्रुता धारण किये रहते हैं। दूसरों को लूटने, उनको अपने अधीन करने, उन्हें दास या गुलाम बनाने, उनके हिताधिकारों का नाश करने की ये सदैव चेष्टा करते रहते हैं। दुःख, भय, अपमान एवं बन्धन में ये प्राकृतिक कारणों से पूर्णतः बँधे रहते हैं। इनकी जीवनयात्रा में हर 100 योजन के पश्चात् 100 योजन की दूरी शेष रह जाती है। अतः ये जीवनोद्देश्य की पूर्ति कभी नहीं कर पाते। इनके अधूरेपन का कभी अन्त नहीं होता। अभावबोध आजीवन इनका पीछा नहीं छोड़ता।*

***१०) क्षमाहीनता** (Non-Forgiveness) :- दुर्जन लोग क्षमाहीन होते हैं। उनमें क्षमायाचना एवं क्षमादान की प्रवृत्ति नहीं होती। स्वतः गलती करने पर वे किसी से सहज ही क्षमा नहीं माँगते और दूसरों की गलती पर उसे सहज ही क्षमा नहीं करते। दूसरों द्वारा अनजाने में भी हुई त्रुटियों को वे बड़ी गंभीरता से लेते हैं और स्वयं के द्वारा जानबूझकर करी गयी बड़ी–बड़ी घटनाओं को भी वे बड़ी सहजता से लेते हैं कि जैसे उन्होंने कुछ भी गलत किया ही नहीं। ये अपना इतिहास उजागर होने से डरते हैं, क्योंकि उसमें कुछ भी श्रेष्ठ नहीं होता। ये सदैव अनावश्यक बदले की आग में झुलसते रहते हैं।*

***११) म्लेच्छता** (Dirtiness) :- दुर्जन प्रवृत्ति के व्यक्ति मलिन इच्छा वाले होते हैं। उनमें स्वच्छता का अभाव होता है। इनके तन से, वस्त्रों से, वस्तुओं से दुर्गन्ध निकलती रहती है, क्योंकि ये अकर्मण्यतावश स्वच्छताप्रिय नहीं हो पाते। मलिनता को ये आलस्यवश आभूषण की भाँति धारण किये रहते हैं, क्योंकि ये कर्मठ नहीं होते। स्वच्छ बने रहने के लिए निरन्तर कर्मठता आवश्यक होती है। दुष्ट लोग कर्मठ नहीं, कर्मचोर होते हैं। अतः इन्हें फलचोर भी होना पड़ता है, क्योंकि परिश्रमपूर्वक फलों का उपार्जन ये नहीं कर पाते। विवश होकर ही कर्मशील होते हैं। कर्म को कष्ट मानते हुए ये कहते हैं–**'अजगर करे न चाकरी, पंछी करे न काम।'** म्लेच्छता के कारण ये तमसोन्मुख होते हैं। दूषित आचार–व्यवहार उनमें तमोगुण की वृद्धि करता है, जिससे अकर्मण्यता, श्रमहीनता, कुरूपता, अभद्रता, जड़ता, मूर्खता के लक्षण प्रकट होने लगते हैं।*

१२) दुर्विलासिता (Bad Lustness) :- दुर्जन लोग दुर्विलासी होते हैं। कुमद्य, कुमैथुन, कुकौतुक, कुद्यूत, कुसंगीत ही उन्हें प्रिय लगता है। मद्य, मैथुन, कौतुक, द्यूत, संगीत आदि पंचविलासों के कुत्सित स्वरूप का ही वे सेवन करते हैं। पंचविलासों के सात्त्विक स्वरूप इन्हें आनन्द की अनुभूति नहीं दे पाते। अतः इन्हें सुविलास प्रिय नहीं लगता। तामसिक, दूषित, मलिन, क्रूर, हिंसक, उत्पीड़क क्रियाओं एवं वस्तुओं में ही इन्हें आनन्द की अनुभूति हो पाती है। अत्यन्त तीखे, कड़वे, विषाक्त, नशीले, मलिन, दूषित, कुरुप, वीभत्स, कष्टदायक पदार्थ ही इन्हें प्रिय होते हैं। अतः दुर्विलासिता को भी अवरीय व्यक्तियों का प्रमुख लक्षण माना जाता है।

१३) प्रतिद्वन्द्विता (Rivalry) :- दुष्ट लोग द्वैतवृत्ति के कारण स्वभावतः प्रतिद्वन्द्वी होते हैं। दूसरों के साथ प्रतियोगिता (Competition) के स्थान पर इन्हें प्रतिद्वन्द्विता (Rivalry) ही प्रिय होती है। प्रतियोगिता इन्हें प्रिय नहीं होती, क्योंकि प्रतियोगिता में दूसरों को स्वीकारना एवं दूसरों से जुड़ना होता है। जबकि प्रतिद्वन्द्विता में दूसरों को तिरस्कृत करना, तोड़ना, कमजोर बनाना, दबाना एवं हराना होता है। किन्तु प्रतियोगिता दूसरों को हराती नहीं, बल्कि दूसरों से मेल कराती है, मिलाती है। प्रतियोगिता से विकास एवं प्रतिद्वन्द्विता से विनाश होता है। दुर्जन प्रवृत्ति के लोग दुर्ज्ञानग्रस्त होने के कारण सदैव द्वैतभाव से आच्छादित रहते हैं एवं दूसरों के लिए प्रतिद्वन्द्वी हो जाते हैं। सत्ज्ञान के अभाव में वे दूसरों को स्वयं से भिन्न मानकर द्वन्द्वात्मक वृत्ति धारण करते हैं। सम्पूर्ण संसार एक ही मौलिक तत्त्व से रचा होते हुए भी वे परस्पर एकात्मता के यथार्थबोध को धारण नहीं कर पाते। अतः पारस्परिक सम्बद्धता के स्थान पर संघर्ष की द्वन्द्वात्मक नीति ही अपनाते हैं। प्रतिद्वन्द्विता के कारण ही ये अपनी ऊँचाई की वृद्धि का सत्प्रयत्न करने के बजाय दूसरों की लम्बाई को कम करने का दुष्प्रयत्न करते हैं। जबकि सज्जन लोग प्रतियोगिता से प्रेरित होकर दूसरों की ऊँचाई के अनुरुप स्वयं के व्यक्तित्व का विकास उनसे संयुक्त होकर, जुड़कर एवं उन्हीं के मार्गदर्शन में सरलतापूर्वक करने का प्रयत्न करते हैं। दूसरों के कारण दुर्जनों को भय, दुःख, अपमान की गहन अनुभूति होती है। दूसरों की मृत्यु पर ही अपने जीवन को सुरक्षित अनुभव करते हैं। यद्यपि मूलतत्त्व अजर-अमर ही है। किन्तु अज्ञानवश ये मृत्युभय से ग्रस्त रहते हैं और दूसरे को अपने सामने उपस्थित देखकर भयभीत हो जाते हैं और उसे मिटाने-मारने का निरन्तर प्रयास करते हैं। पर्याप्त बौद्धिक विकास के अभाव तथा कुसंस्कार से ग्रस्त होने के कारण ये आत्मा की सर्वव्यापकता के सत्य को जान, मान और जी नहीं पाते। अतः दुर्जनों में प्रतिद्वन्द्विता के लक्षण भी स्पष्ट रूप से विद्यमान रहता है।

१४) विध्वंसात्मकता (Destructiveness) :- दुर्जनों में सृजन की सामर्थ्य नहीं होती। वे मूलतः विध्वंसात्मक प्रवृत्ति के होते हैं। सृजनात्मकता के लिए सद्गुणों की आवश्यकता होती है। दुर्गुणों के द्वारा साहित्य, संगीत, कौशल, विज्ञान कुछ भी विकसित नहीं होता। जैसे-जैसे दुर्गुण बढ़ता है, वैसे-वैसे सृजनात्मकता क्षीण होती चली जाती है। इनमें कर्मठता, बुद्धिमत्ता, धैर्य एवं विवेक का अभाव होता है, जिसके विना सृजन संभव नहीं होता। ये अकर्मण्यता, बुद्धिहीनता, अस्थिरता एवं विक्षिप्तता से ग्रस्त रहते हैं। अतः सदैव उद्विग्न रहते हैं। ये दम्भ, द्वेष, ईर्ष्या के वशीभूत होकर सुन्दर रचनाओं को भी तोड़ते, फोड़ते, लूटते और नष्ट करते रहते हैं। अकर्मण्य होने के कारण ये अकुशल हो जाते हैं। अकुशलता इन्हें असफलता की ओर ले जाती है। असफलता इन्हें निराशा, हताशा, उदासी, खिन्नता की ओर ले जाती है। ये सफल, सुन्दर, शुभ, सज्जन लोगों के समक्ष स्वयं को दीन, हीन, दुर्बल देखते हैं, तथा दुर्ज्ञानवश दोषयुक्त होकर ये **'अीझी बिल्ली खम्भा नोचे'** की कहावत चरितार्थ करते एवं विध्वंसात्मक हो जाते हैं।

१५) पतनोन्मुखता *(Downfallness) :- दुष्ट लोग पतनशील होते हैं। जो कोई भी व्यक्ति दुष्पथ पर चलता है, वह स्वतः पतनोन्मुख हो जाता है। अपने वर्तमान स्थान अथवा पद से च्युत होकर अधोगामी एवं पदावनत हो जाता है। पतन का मूल कारण पंचमहापातकों का सेवन है। नशा, कुत्सा, मांसाहार, व्याजखोरी एवं कुसंग ही पंचमहापातक हैं, जो मनुष्य को अधोपतित बनाते हैं। मुफ्तखोरी ही व्याजखोरी है, जो इन्हें उपार्जन के स्थान पर अपहरण सिखाती है। दूसरों से माँगकर, लूटकर, छीनकर खाना ही मुफ्तखोरी है। इन पंचमहापातकों का सेवन करनेवाले व्यक्ति पतित होकर गर्त में जा पहुँचते हैं। सर्वोच्च वरीय पदों पर प्रतिष्ठित व्यक्ति भी यदि पंचमहापातकों का सेवन प्रारम्भ करे, तो वह भी धीरे–धीरे पतित होकर निम्नतम पद तक जा पहुँचता है। दुर्जन लोग स्वाभाविक रूप से इन पंचमहापातकों की ओर आकर्षित होते हैं और पतन के मार्ग पर चल पड़ते हैं।*

१६) दुर्गतिशीलता *(Downwardness) :- दुर्जन लोग दुर्गतिशील होते हैं। वे दुराचार एवं दुर्व्यवहार करते हैं और अन्ततः दुर्दशा को प्राप्त हो जाते हैं। ये सम्पूर्ण विश्व को अपनी मुट्ठी में कर लें, तो भी दोष, दरिद्रता, दुःख एवं दासता ही इनका अन्तिम दुष्परिणाम एवं दुर्भाग्य सिद्ध होता है। पंचदोषों से दरिद्रता, दरिद्रता से दुःख, दुःख से दासता उत्पन्न होती है। दार्शनिक सत्ज्ञान के अभाव में ये शिक्षित होकर भी दुष्ट, धनी होकर भी दरिद्र, सुखी होकर भी दुःखी एवं स्वामी होकर भी दास सिद्ध होते हैं। दुष्प्रवृत्त लोग एक–दूसरे को दास बनाने में निरन्तर संलग्न रहते हैं। दासता एवं दैन्यता ही इन्हें विनाश की ओर ले जाती है। ये तमसोन्मुख हो जाते हैं। धीरे–धीरे वे तमोगुण की ओर बढ़ते जाते हैं। उनकी चेतना को तमोगुण धीरे–धीरे आच्छादित करता चला जाता है। दोषों के कारण दुर्गुण बढ़ते हैं। दुर्गुण तमस् की ओर ले जाते हैं। इन्हें कालारंग, कालरात्रि एवं कलुषित वस्तुयें अधिक प्रिय लगती हैं। तामसिक भोजन ही इन्हें अधिक रुचता है। राजसिक एवं सात्त्विक पदार्थ इन्हें अधिक आकर्षित नहीं करते। पंचदोष इन्हें स्वयं ही तमस् की ओर घसीटकर ले जाते हैं। दुर्जन लोग दुष्पथगामी होते हैं। दुर्गति से ग्रस्त होकर दुष्कर्म करते एवं दुष्परिणाम भोगते हुए दुर्दशा को प्राप्त हो जाते हैं।*

❁❁❁

वरीयतानुसार विशेष लक्षण एवं प्रवृत्ति *(Special Characteristics & Tendency according to Merit) :- मानवजीवनविकासक्रम से प्राप्त होनेवाली चारों वरीयताओं के निम्नलिखित विशेष लक्षण होते हैं :–*

1. *शारीरिक दशा के व्यक्तियों में अन्नमय अस्तित्व का बोध सघन होता है। इनमें अन्नप्रियता के विशेष लक्षण पाये जाते हैं। इनमें खाद्य एवं पेयादि पंचपदार्थों के प्रति आसक्ति निरन्तर बनी रहती है। इनमें अन्नसंग्रह की प्रवृत्ति प्रधान होती है। अन्न देखकर ही ये प्रसन्न एवं प्रेरित होते हैं। अन्न ही इनके लिए सर्वोच्च इष्ट होता है। अन्न, शाक, फल, दुग्ध आदि पोषकतत्त्वों का उत्पादन इन्हें प्रिय लगता है। लोकपोषण में ये विशेषरूप से समर्थ होते हैं। ये बलिष्ठता, पुष्टता आदि में अधिक कुशल होते हैं। ये केवल शारीरिक क्षमताओं का उपयोग सरलतापूर्वक कर पाते हैं। इनका तन तो संस्कृति हो जाता है, किन्तु इनके मन, प्राण, आत्मा प्राकृत रहते हैं।*

2. *मानसिक दशा के व्यक्तियों में मनोमय अस्तित्व का बोध सघन होता है। इनमें धनप्रियता के विशेष लक्षण पाये जाते हैं। इनमें धन एवं पंचविषयों के प्रति आसक्ति निरन्तर बनी रहती है। इनमें धनसंग्रह की प्रवृत्ति प्रधान होती है। धन देखकर ही ये प्रसन्न एवं प्रेरित होते हैं। धन ही इनके लिए सर्वोच्च इष्ट होता है। शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध आदि मनोरंजकतत्त्वों का उत्पादन*

इन्हें प्रिय लगता है। लोकरंजन में ये विशेषरूप से समर्थ होते हैं। ये वाक्पटुता, तार्किकता, स्वप्नशीलता, काल्पनिकता आदि में अधिक कुशल होते हैं। ये शारीरिक और मानसिक क्षमताओं का उपयोग सरलतापूर्वक कर पाते हैं। इनके तन और मन संस्कृत हो जाते है, किन्तु इनके प्राण और आत्मा प्राकृत रहते हैं।

3. *भावनात्मक दशा के व्यक्तियों में प्राणमय अस्तित्व का बोध सघन होता है। इनमें यशप्रियता के विशेष लक्षण पाये जाते हैं। ये अपयश एवं अपकीर्ति से दूर रहने की चेष्टा करते हैं। इनमें समस्त प्राणियों के प्रति आसक्ति निरन्तर बनी रहती है। इनमें यश एवं कीर्ति संग्रह के संग्रह की प्रवृत्ति प्रधान होती है। यश से ही ये प्रसन्न एवं प्रेरित होते हैं। यश, कीर्ति अथवा प्रशस्ति ही इनके लिए सर्वोच्च इष्ट होती है। सभी प्राणियों में स्थित पंचप्राणों की रक्षा इन्हें प्रिय लगती है। लोकसेवा, लोकरक्षा, लोकपालन में ये विशेषरूप से समर्थ होते हैं। ये संवेदनशील, वचनबद्ध, प्रतिज्ञावान्, सेवाभावी, निर्भीक, वीर, श्रद्धालु एवं सद्वृत्त होते हैं। प्रशंसा इन्हें प्रसन्न करती है। इसीलिए ये प्रशंसनीय कर्म करते हैं एवं दुष्कर्मों से दूर रहते हैं। ये शारीरिक, मानसिक और भावनात्मक क्षमताओं का उपयोग सरलतापूर्वक कर पाते हैं। इनके तन, मन, प्राण तो संस्कृत हो जाते हैं, किन्तु इनकी आत्मा प्राकृत रहती है। गुणों की शुद्धि होने पर ये चेतनात्मक विकास में प्रवेश करते हैं।*

4. *चेतनात्मक दशा के व्यक्तियों में चिन्मय अस्तित्व का बोध सघन होता है। इनमें श्रेयप्रियता के विशेष लक्षण पाये जाते हैं। इनमें सर्वव्यापी आत्मा के प्रति आसक्ति निरन्तर बनी रहती है। इनमें श्रेयसंग्रह की प्रवृत्ति प्रधान होती है। श्रेय से ही ये प्रसन्न एवं प्रेरित होते हैं। श्रेय ही इनके लिए सर्वोच्च इष्ट होता है। श्रेष्ठता ही इनकी मूल वृत्त होती है। इसीलिए ये श्रेयष्कर कार्यों में ही संलग्न रहते हैं। प्रेय वस्तुओं से ये सदैव अलिप्त रहते हैं। अतः ये ऊर्ध्वरेतस् होकर योगस्थ हो जाते हैं। ऊर्ध्वस्थता ही इनके लिए श्रेयष्कर होती है। लोकनेतृत्व में ये विशेषरूप से समर्थ होते हैं। इनके वक्तव्य अत्यन्तिम रूप से सत्य सिद्ध होते हैं। अतः ये अपेक्षा करते हैं कि लोग इनकी बातों को स्वीकार करें, उन पर श्रद्धा करें। यही इनकी श्रेयप्रियता का कारण होता है। ये प्राकृत दशा से मुक्त एवं पूर्णरूप से संस्कृत दशा में होते हैं और शारीरिक, मानसिक, भावनात्मक, चेतनात्मक इत्यादि चारों क्षमताओं का उपयोग सरलतापूर्वक कर पाते हैं। इनमें प्राकृतता या प्रकृति की अधीनता शेष नहीं रह जाती। ये आत्मस्थ एवं स्वस्थ हो जाते हैं। इनकी इन्द्रियाँ, मन, प्राण, आत्मा इत्यादि चारों केन्द्र संस्कृत हो जाते हैं अर्थात् प्रकृति की बाध्यताओं से मुक्त हो जाते हैं। अर्थात् ये अपनी इन्द्रियों, मन, प्राण और आत्मा को स्वाधीनतापूर्वक उपयोग करने में समर्थ हो जाते हैं। ये पूर्णतः स्वस्थ, स्वतन्त्र एवं स्वाधीन होते हैं। ये अपने सुख, सुरक्षा, सम्मान, उत्थान आदि के लिए स्वावलम्बी हो जाते हैं। इनमें पराश्रितता, परावलम्बिता के लक्षण नहीं पाये जाते। इनमें समदर्शिता, सर्वात्मकता, सर्वव्यापकता, सर्वसापेक्षता, निष्पक्षता के लक्षण पाये जाते हैं।*

***न्यायशील पात्रतानुसार पदनियोजन** (Justifiable Post Allocation according to Eligibility) :-* *मानवजीवन विकासयात्रा चार आयामी है। सभी मनुष्यों में क्रमशः चार क्षमताओं के विकास की संभावना होती है। शारीरिक, मानसिक, भावनात्मक, चेतनात्मक इत्यादि क्रमशः चार क्षमताओं के अनुरूप ही उनकी उपयोगिता सिद्ध होती है। क्षमतानुसार पात्रता, पात्रतानुसार कर्म, कर्मानुसार पद एवं पदानुसार सम्पदा के स्वामित्व की न्यायशील व्यवस्था ही*

समाज अथवा राष्ट्र की धुरी है। न्यायोचित वरीयताक्रम के अनुरुप पात्रतानुसार पदनियुक्ति की व्यवस्था निम्नलिखित है। :–

1. *शारीरिक क्षमता **(PQ)** हेतु न्यायोचित हिताधिकारों के रूप में कृषिकर्म, कृषकपद एवं कृषिसम्पदा पर स्वामित्व की व्यवस्था।*
2. *मानसिक क्षमता **(IQ)** हेतु न्यायोचित हिताधिकारों के रूप में वाणिज्यकर्म, वणिकपद एवं वाणिज्यसम्पदा पर स्वामित्व की व्यवस्था।*
3. *भावनात्मक क्षमता **(EQ)** हेतु न्यायोचित हिताधिकारों के रूप में राज्यकर्म, राजकीयपद एवं राज्यसम्पदा पर स्वामित्व की व्यवस्था।*
4. *चेतनात्मक क्षमता **(SQ)** हेतु न्यायोचित हिताधिकारों के रूप में नेतृत्वकर्म, नायकपद एवं नेतृत्वसम्पदा पर स्वामित्व की व्यवस्था।*

***वरीयताक्रम के अनुसार आदरणीयता की प्रतिष्ठा** (Establishment of Idealness according to Merit Sequence) :- चारों मानवीय क्षमतायें क्रमबद्ध हैं। ये क्षमतायें उत्तरोत्तर उन्नत क्रम से विकसित होती हैं। क्रम भंग होकर विकसित होने पर ये सार्थक सिद्ध नहीं हो पातीं। ये क्षमतायें उत्तरोत्तर श्रेष्ठ एवं आदर्श होती हैं। विकासक्रम के अनुसार क्षमताओं की आदरणीयता निम्नलिखित रूप में प्रतिष्ठित होती है :–*

1. *शारीरिक क्षमता के लिए मानसिक, भावनात्मक एवं चेतनात्मक क्षमतायें क्रमागत रूप से उत्तरोत्तर उन्नत आदर्श होंगी, क्योंकि शारीरिक क्षमता के पश्चात् ही मानसिक आदि क्षमताओं का विकास संभव होता है। शारीरिक क्षमता से मानसिक आदि क्षमतायें अधिक उपयोगी, उन्नत एवं श्रेष्ठ होती हैं। अतः मानसिक क्षमताओं को आदर्श मानकर ही शारीरिक क्षमतावाले लोगों का उच्चस्तरीय विकास संभव होगा।*

2. *मानसिक क्षमता के लिए भावनात्मक एवं चेतनात्मक क्षमतायें क्रमागत रूप से उत्तरोत्तर उन्नत आदर्श होंगी, क्योंकि मानसिक क्षमता के पश्चात् ही भावनात्मक आदि क्षमताओं का विकास संभव होता है। मानसिक क्षमता से भावनात्मक आदि क्षमतायें अधिक उपयोगी, उन्नत एवं श्रेष्ठ होती हैं। अतः भावनात्मक क्षमताओं को आदर्श मानकर ही मानसिक क्षमतावाले लोगों का उच्चस्तरीय विकास संभव होगा।*

3. *भावनात्मक क्षमता के लिए चेतनात्मक क्षमता क्रमागत रूप से उन्नत आदर्श होगी क्योंकि भावनात्मक क्षमता के पश्चात् ही चेतनात्मक क्षमता का विकास संभव होता है। भावनात्मक क्षमता से चेतनात्मक क्षमता अधिक उपयोगी, उन्नत एवं श्रेष्ठ होती है। अतः चेतनात्मक क्षमता को आदर्श मानकर ही भावनात्मक क्षमतावाले लोगों का उच्चस्तरीय विकास संभव होगा।*

4. *चेतनात्मक क्षमता ही सर्वोच्च उपयोगी, सर्वोन्नत एवं सर्वश्रेष्ठ होती है। अतः चेतनात्मक क्षमतावालों का सगादर्श केवल सैद्धान्तिक होता है। आत्मचेतना का सैद्धान्तिक सत्य ही उसका सगादर्श है। इसका कोई स्थूल समादर्श नहीं होता। आत्मा सर्वव्यापी होकर स्वयं से स्वयं में ही आदर्शवान् होती है। आत्मा से ही सब कुछ उत्पन्न होकर आत्मा में ही प्रतिष्ठा को प्राप्त होता है। अतः सर्वव्यापी आत्मा का उल्लंघन कोई नहीं कर सकता। वह अत्यन्तिम है। आत्मा पूर्ण विकसित होकर स्वयं दार्शनिक सिद्धान्त का साकार अस्तित्व हो जाती है।*

वरीयताक्रम के अनुसार अनुशासन की प्रतिष्ठा ***(Establishment of Discipline according to Merit Sequence) :-*** *चारों मानवीय क्षमतायें क्रमबद्ध हैं। ये क्षमतायें उत्तरोत्तर उन्नत क्रम से विकसित होती हैं। क्रम भंग होकर विकसित होने पर ये सार्थक सिद्ध नहीं हो पातीं। विकासक्रम के अनुसार क्षमताओं की अनुशासनशीलता निम्नलिखित रूप में प्रतिष्ठित होगी :–*

1. *शारीरिक क्षमता के लिए मानसिक क्षमता का अनुशासन प्रतिष्ठित होता है। इन्द्रियों का संचालन मन के द्वारा ही होता है। ऐन्द्रिक शरीर पर मानसिक क्षमता का प्रभुत्व स्वतः प्रतिष्ठित रहता है। मानसिक विकास होते ही इन्द्रियाँ मनोबुद्धि के अनुकूल चलने को तत्पर होती हैं। सभी इन्द्रियाँ स्वतः मन की अनुगामिनी होती हैं। अतः तन के लिए मन का अनुशासन स्वतः सिद्ध है। इन्द्रियों पर मन का गुरुत्व है, स्वामित्व है, ईश्वरत्व है, शासकत्व है।*

2. *मानसिक क्षमता के लिए भावनात्मक क्षमता का अनुशासन प्रतिष्ठित होता है। इन्द्रियों और मन का संचालन प्राण के द्वारा ही होता है। प्राण ही ऊर्जा है, प्राण ही जीवनीशक्ति है, प्राण ही भावतरंगों के रूप में अभिव्यक्त होता है। इन्द्रियों और मन पर भावनात्मक क्षमता का प्रभुत्व स्वतः प्रतिष्ठित रहता है। भावनात्मक विकास होते ही इन्द्रियाँ और मन स्वतः भावनात्मक संवेदना के अनुकूल चलने को तत्पर होते हैं। सभी इन्द्रियाँ और मन स्वतः प्राण के अनुगामी होते हैं। अतः तन और मन के लिए प्राण का अनुशासन स्वतः सिद्ध है। मन पर प्राण का गुरुत्व है, स्वामित्व है, ईश्वरत्व है, शासकत्व है।*

3. *भावनात्मक क्षमता के लिए चेतनात्मक क्षमता का अनुशासन प्रतिष्ठित होता है। इन्द्रियों, मन और प्राण का संचालन आत्मा के द्वारा ही होता है। आत्मा ही चिद्विवेक के रूप में जानी जाती है। इन्द्रियों, मन और प्राण पर चेतनात्मक क्षमता का प्रभुत्व स्वतः प्रतिष्ठित रहता है। चेतनात्मक विकास होते ही इन्द्रियाँ, मन और प्राण स्वतः चिद्विवेक के अनुकूल चलने को तत्पर होते हैं। सभी इन्द्रियाँ, मन और प्राण स्वतः आत्मा के अनुगामी होते हैं। अतः तन, मन और प्राण के लिए आत्मा का अनुशासन स्वतः सिद्ध है। प्राण पर आत्मा का गुरुत्व है, स्वामित्व है, ईश्वरत्व है, शासकत्व है। क्रिया, विचार, भाव पर चेतना की वरीयता सिद्ध है। क्रिया, विचार, भाव तीनों ही चेतना द्वारा स्वतः अनुशासित होते हैं।*

4. *चेतनात्मक क्षमता के लिए चेतनात्मक क्षमता का ही अनुशासन प्रतिष्ठित होता है। इन्द्रियों, मन, प्राण और आत्मा का संचालन आत्मचेतना द्वारा ही होता है। आत्मा ही चिद्विवेक के रूप में जानी जाती है। इन्द्रियों, मन, प्राण, आत्मा पर चेतनात्मक क्षमता का प्रभुत्व स्वतः प्रतिष्ठित रहता है। चेतनात्मक विकास होते ही इन्द्रियाँ, मन, प्राण और आत्मा स्वतः चिद्विवेक के अनुकूल चलने को तत्पर होते हैं। सभी इन्द्रियाँ, मन, प्राण और आत्मा स्वतः परमात्मा अथवा सर्वात्मा के अनुगामी होते हैं। आत्मा अपने मूल अस्तित्व में सर्वात्मा ही है, परमात्मा ही है। अतः तन, मन, प्राण और आत्मा के लिए आत्मचेतना का अनुशासन स्वतः सिद्ध है। आत्मा पर सर्वात्मा का ही शासन इसलिए स्वतः सिद्ध होता है, क्योंकि सर्वव्यापी आत्मा का उल्लंघन नहीं किया जा सकता। वह आत्मा अत्यन्तिम है, सर्वव्यापी है। सब कुछ आत्मा से उत्पन्न होकर आत्मा में ही प्रतिष्ठित रहता है। अतः आत्मविवेक ही सबका शासक, मार्गदर्शक, नायक, नेता, नेतृत्वकर्ता अथवा गुरु है। आत्मा की सबका साक्षी है। आत्मा ही सबका न्यायाधीश है। आत्मा ही सबका नेता है। आत्मा ही सबका नियामक है। आत्मा पर सर्वात्मा का ही गुरुत्व है, स्वामित्व है, ईश्वरत्व है, शासकत्व है। यदि अधिक सटीक ढंग से कहा जाये, तो स्वात्मा पर सर्वात्मा का गुरुत्व है। आत्मा का सैद्धान्तिक अस्तित्व सर्वात्मक ही है।*

मानवजीवनविकास की अनिवार्यता ***(Essentiality of Humanlife Development)*** ***:-*** *आत्मा के विना प्राण व्यर्थ हो जाता है। प्राण के विना मन व्यर्थ हो जाता है। मन के विना तन व्यर्थ हो जाता है। आत्मविहीन, भावविहीन, मनविहीन प्राणी जंगली पशुओं की भाँति होते हैं तथा सदैव मूर्खतापूर्ण आचार–व्यवहार करते हैं, जिससे भयंकर त्रास और दुःख उत्पन्न होता है, जीवन भयंकर संकटों, कष्टों, कठिनाइयों से घिर जाता है। व्यवहार में जंगलराज व्याप्त रहता है। सभी प्राणी एक–दूसरे के लिए घातक सिद्ध होते हैं। जो जिस पर सबल होता है, वह उसे अपना शिकार बनाता रहता है। प्रायः सभी प्राणी एक–दूसरे के लिए शिकारी और शिकार की भूमिका निभाते हैं। स्वयं को सुरक्षित कोई नहीं अनुभव कर पाता। भय, कष्ट, दुःख ही उनका भाग्य बना रहता है। जंगलराज से मंगलराज की ओर जाने के लिए मानवजीवनविकास की अनिवार्यता स्वतः प्रमाणित है। सामाजिक सभ्यता के विना मनुष्य समृद्ध, सुन्दर, सुखी एवं स्वस्थ जीवन नहीं जी सकता। मानवजीवन विकास के विना सामाजिक सभ्यता प्रतिष्ठित नहीं हो सकती। अतः शारीरिक, मानसिक, भावनात्मक, चेतनात्मक विकासयात्रा के प्रयत्नों का अवलम्बन अनिवार्य है।*

निजी आचार की स्वतन्त्रता एवं पारस्परिक व्यवहार की प्रतिबद्धता ***(Freedom of Own Character & Compulsion of Mutual Behaviour)*** ***:-*** *समाज में चारों प्रकार की मानवीय क्षमताओं वाले व्यक्ति होते हैं। कुछ शारीरिक, कुछ मानसिक, कुछ भावनात्मक, कुछ चेतनात्मक क्षमता धारण करने वालों की विद्यमानता संभव होती है। ऐन्द्रिक, मानसिक, प्राणिक, आत्मिक इत्यादि चारों क्षमतायें अपनी–अपनी स्वाभाविक दशा में प्रतिष्ठित रहती हैं। प्रत्येक को अपने निजी स्वभाव के अनुरूप जीवनयापन करने का अधिकार है, किन्तु अपनी किसी स्वाभाविक दशा से दूसरों को दुःख, कष्ट, हानि, क्षति पहुँचाना कभी न्यायसंगत नहीं हो सकता। अतः प्रत्येक मनुष्य को अपनी वर्तमान स्वाभाविक दशा एवं क्षमता के अनुरूप निजी आचार की स्वतन्त्रता होती है। किन्तु दूसरों की निजी अभिरुचियों एवं आचरणों की स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए पारस्परिक व्यवहार का न्यायसिद्धान्त भी प्रतिष्ठित किया जाना अनिवार्य होता है, जिससे कि प्रत्येक व्यक्ति की निजता की स्वतन्त्रता बनी रहे। स्पष्ट है कि निजी आचार की स्वतन्त्रता के साथ–साथ पारस्परिक व्यवहार की प्रतिबद्धता भी आवश्यक होती है। अथवा पारस्परिक व्यवहार की न्यायोचित प्रतिबद्धता के साथ–साथ निजी आचरण की न्यायोचित स्वतन्त्रता भी आवश्यक एवं अनिवार्य होती है।*

यद्यपि निजी चारित्रिक मामलों के लिए चारों क्षमताओं वाले मनुष्य पूर्णतः स्वतन्त्र हैं, किन्तु जिन आचरणों द्वारा पारस्परिक व्यवहार प्रभावित होता है अथवा जहाँ पारस्परिक हितों का समावेश होता है, वहाँ पर न्यायोचित व्यवहार की विधिव्यवस्था आवश्यक हो जाती है। व्यावहारिक नियम, नीति, निर्णय सर्वोच्च आत्मचेतना द्वारा अपने चिद्विवेक की सामर्थ्य का प्रयोग करके सत्यात्मक एवं निष्पक्ष न्यायकारी सिद्धान्त द्वारा प्रकाशित होते हैं। इसीलिए इन न्यायशील नियमों, नीतियों, निर्णयों को सर्वस्वीकार्य माना जाता है।

❁❁❁

न्यायशील पदनियोजन हेतु पात्रतापरीक्षण

(Eligibility Test for Justifiable Post Allocation)

पात्रतापरीक्षण के घटक Factors of Eligibility Test	चिकित्सकीय स्वास्थ्य परीक्षण Medical Health Test	शैक्षणिक योग्यता परीक्षण Educational Qualification Test	चारित्रिक गुणवत्ता परीक्षण Character Quality Test	प्रशिक्षित कौशल परीक्षण Trained Skill Test
1.कृषकपद हेतु पात्रतापरीक्षण Eligibility Test for the Post of Agro-Worker PQ शारीरिक क्षमतापरीक्षण (कर्मेन्द्रिय, ज्ञानेन्द्रिय, आवेग, विकार) Physical Capability Test (PQ) (Organs, Senses, Impulse, Perversion)	अल्पस्वास्थ्यपरीक्षण (00% से अधिक प्राप्तांक) (शिरक्षेत्र, वक्षक्षेत्र, उदरक्षेत्र, पैरक्षेत्र का परीक्षण) Low Medical Condition Test (More than 00% Marks) (Test of Head, Chest, Stomach, Feet Areas)	अल्पशिक्षापरीक्षण (00% से अधिक प्राप्तांक) (भाषा, गणित, संज्ञान, दर्शन का परीक्षण) Low Educational Test (More than 00% Marks) (Language, Maths, GK, Philosophy)	अल्पसतगुणपरीक्षण (00% से अधिक प्राप्तांक) (आहार-विहार, वेश-भूषा, रहन-सहन, प्रथा-परंपरा) Low True Character Quality Test (More than 00% Marks) (Eating-Living, Dressing-Jewelling, Dwelling,-Bearing, Tradition-Convention)	अल्पकौशलपरीक्षण (00% से अधिक प्राप्तांक) (कृषिकौशल, कलाकौशल, व्यवहारकौशल, अध्यात्मकौशल) Low Skill Test (More than 00% Marks) (Agro Skill, Art Skill, Behavior Skill, Spiritual Skill)
2.वणिकपद हेतु पात्रतापरीक्षण Eligibility Test for the Post of Commercial-Worker IQ मानसिक क्षमतापरीक्षण (मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार) Mental Capability Test (IQ) (Mind, Intelligence, Memory, Ego)	अर्धस्वास्थ्यपरीक्षण (25% से अधिक प्राप्तांक) (शिरक्षेत्र, वक्षक्षेत्र, उदरक्षेत्र, पैरक्षेत्र का परीक्षण) Semi Medical Condition Test (More than 25% Marks) (Test of Head, Chest, Stomach, Feet Areas)	अर्धशिक्षापरीक्षण (25% से अधिक प्राप्तांक) (भाषा, गणित, संज्ञान, दर्शन का परीक्षण) Semi Educational Test (More than 25% Marks) (Language, Maths, GK, Philosophy)	अर्धसतगुणपरीक्षण (25% से अधिक प्राप्तांक) (आहार-विहार, वेश-भूषा, रहन-सहन, प्रथा-परंपरा) Semi True Character Quality Test (More than 25% Marks) (Eating-Living, Dressing-Jewelling, Dwelling,-Bearing, Tradition-Convention)	अर्धकौशलपरीक्षण (25% से अधिक प्राप्तांक) (वाणिज्यकौशल, कलाकौशल, व्यवहारकौशल, अध्यात्मकौशल) Semi Skill Test (More than 00% Marks) (Commerce Skill, Art Skill, Behavior Skill, Spiritual Skill)
3.राजकीयपद हेतु पात्रतापरीक्षण Eligibility Test for the Post of Public Worker EQ भावनात्मक क्षमतापरीक्षण (संवेदना, साहसता, ग्रहणता, सद्वृत्ति) Emotional Capability Test (EQ) (Sensitivity, Courage, Receptivity, Good Tendency)	अधिस्वास्थ्यपरीक्षण (50% से अधिक प्राप्तांक) (शिरक्षेत्र, वक्षक्षेत्र, उदरक्षेत्र, पैरक्षेत्र का परीक्षण) Major Medical Condition Test (More than 50% Marks) (Test of Head, Chest, Stomach, Feet Areas)	अधिशिक्षापरीक्षण (50% से अधिक प्राप्तांक) (भाषा, गणित, संज्ञान, दर्शन का परीक्षण) Major Educational Test (More than 50% Marks) (Language, Maths, GK, Philosophy)	अधिसतगुणपरीक्षण (50% से अधिक प्राप्तांक) (आहार-विहार, वेश-भूषा, रहन-सहन, प्रथा-परंपरा) Major True Character Quality Test (More than 50% Marks) (Eating-Living, Dressing-Jewelling, Dwelling,-Bearing, Tradition-Convention)	अधिकौशलपरीक्षण (50% से अधिक प्राप्तांक) (राज्यकौशल, कलाकौशल, व्यवहारकौशल, अध्यात्मकौशल) Major Skill Test (More than 00% Marks) (Service Skill, Art Skill, Behavior Skill, Spiritual Skill)
4.नायकपद हेतु पात्रतापरीक्षण Eligibility Test for the Post of Leader SQ चेतनात्मक क्षमतापरीक्षण (विवेचिक, विदूरदर्शन, विन्दुबिन्दु, विद्वत्ता) Conscious Capability Test (CQ) (Conscience, Expansion, Meditation Point, Conscious Level)	पूर्णस्वास्थ्यपरीक्षण (75% से अधिक प्राप्तांक) (शिरक्षेत्र, वक्षक्षेत्र, उदरक्षेत्र, पैरक्षेत्र का परीक्षण) Complete Medical Condition Test (More than 75% Marks) (Test of Head, Chest, Stomach, Feet Areas)	पूर्णशिक्षापरीक्षण (75% से अधिक प्राप्तांक) (भाषा, गणित, संज्ञान, दर्शन का परीक्षण) Complete Educational Test (More than 75% Marks) (Language, Maths, GK, Philosophy)	पूर्णसतगुणपरीक्षण (75% से अधिक प्राप्तांक) (आहार-विहार, वेश-भूषा, रहन-सहन, प्रथा-परंपरा) Complete True Character Quality Test (More than 75% Marks) (Eating-Living, Dressing-Jewelling, Dwelling,-Bearing, Tradition-Convention)	पूर्णकौशलपरीक्षण (100% से अधिक प्राप्तांक) (नेतृत्वकौशल, कलाकौशल, व्यवहारकौशल, अध्यात्मकौशल) Complete Skill Test (More than 00% Marks) (Leader Skill, Art Skill, Behavior Skill, Spiritual Skill)

टिप्पणी : १. पात्रतानुसार पदनियुक्ति की व्यवस्था ही समाज एवं राष्ट्र में न्यायशीलता का प्रथम लक्षण है। न्यायोचित पात्रता के बिना कोई भी कर्मसम्पादन सफल नहीं होता। पात्रतानुसार ही कर्म, पद एवं सम्पदा पर स्वामित्व न्यायसंगत होता है।
२. उपरोक्त चारों परीक्षण क्रमबद्ध हैं। अतः उत्तरोत्तर क्रम से ही परीक्षणों में उपस्थित होना न्यायसंगत होगा। परिवार के किसी भी प्रमुख व्यक्ति स्वयं अथवा पति-पत्नी संयुक्त रूप से पदाधिकारी मान्य होंगे।
३. जो लोग इन चारों परीक्षणों में क्रमशः सुपात्र सिद्ध नहीं हो पाते अथवा जो लोग प्राकृतिक कारणों से असमर्थ, विकलांग, रुग्ण, विक्षिप्त, 75 वर्ष से अधिक आयु के वृद्ध आदि हैं, अथवा जो 25 वर्ष की आयु से नीचे अवयस्क हैं, उनके लिए कर्म, पद, सम्पदा का कर्तव्य एवं अधिकार प्रशस्त नहीं है। कृषि, वाणिज्य, राज्य, नेतृत्व आदि कर्मों-पदों-सम्पदाओं के लिए सुपात्र सिद्ध होनेवाले व्यक्तियों को ही कृषक, वणिक, रक्षक, नायक आदि नामों से जाना जाएगा।
४. कृषिकर्म के लिए ही कृषकपद एवं कृषिसम्पदा न्यायसंगत है। वाणिज्यकर्म के लिए वणिकपद एवं वाणिज्यसम्पदा न्यायसंगत है। राज्यकर्म के लिए ही राजपद एवं राज्यसम्पदा न्यायसंगत है। नेतृत्वकर्म के लिए ही नेतृत्वपद एवं नेतृत्वसम्पदा न्यायसंगत है। जीविका की दृष्टि से प्रति परिवार एक रोजगार के न्याय द्वारा प्रत्येक परिवार को एक कर्म, एक पद, एक सम्पदा ही प्राप्त हो सकती है। (मौलिक परीक्षण से पूर्व 4Qs जोन का सामान्य परीक्षण भी किया जा सकेगा।)

न्यायधर्मसभा, जगजीतपुर, कनखल, हरिद्वार-249408 द्वारा राष्ट्रहित में निगमित एवं प्रशस्त, फोन : 09319360554, वेबसाइट : www.nyayadharmsabha.org ईमेल : nds.haridwar@gmail.com

22

न्यायप्रस्ताव

न्यायशील पात्रतानुसार पदनियोजन
(Justifiable Eligibilitywise Posting)

पात्रतानुसार पदनियोजन की न्यायसंगत व्यवस्था अपनाओ!!
कृषि वाणिज्य राज्य नेतृत्व इत्यादि चारों कर्मों को सफल बनाओ!

प्रतिपरिवार एक रोजगार की व्यवस्था के अनुसार प्रत्येक नागरिकपरिवार को समुचित रोजगार की सुलभता हेतु कृषि, वाणिज्य, राज्य, नेतृत्व आदि चारों कर्मों के अनुरूप कृषक, वणिक, रक्षक, नायक इत्यादि चार पदों की प्रतिष्ठा एवं पात्रतानुसार पदनियुक्ति की व्यवस्था का न्यायप्रस्ताव :-

1. कृषक पद (Agricultural Post)

: शारीरिक क्षमता (PQ) वालों के लिए खेती, उद्यान, पशुपालन सम्बन्धी कृषिकर्मों हेतु प्रशस्त कार्षिक पद.
(Agricultural Post prescribed for Farming, Gardening, Dairying etc Agro Works for Physically Capable Persons.)

2. वणिक पद (Commercial Post)

: मानसिक क्षमता (IQ) वालों के लिए व्यापार, उद्योग, व्यवसाय सम्बन्धी वाणिज्यकर्मों हेतु प्रशस्त वाणिज्यिक पद.
(Commercial Post prescribed for Trade, Industry, Profession etc Commercial Works for Mentally Capable Persons.)

3. रक्षक पद (Administrative Post)

: भावनात्मक क्षमता (EQ) वालों के लिए मुद्राप्रबन्धन, राजस्वार्जन, लोकपालन सम्बन्धी राज्यकर्मों हेतु प्रशस्त राजकीय पद.
(Administrative Post prescribed for Currency Management, Revenue Collection, Public Service etc Administrative Works for Emotionally Capable Persons.)

4. नायक पद (Leader Post)

: चेतनात्मक क्षमता (SQ) वालों के लिए विधायन, मंत्रित्व, निर्णयन सम्बन्धी नेतृत्वकर्मों हेतु प्रशस्त नेतृत्व पद.
(Leadership Post prescribed for Legislation, Ministerial, Judicial etc Leadership Works for Spiritually Capable Persons.)

***

टिप्पणी :

01. कुल 25 वर्षीय शिक्षण-प्रशिक्षण के पश्चात् विद्यार्थीजीवन की पूर्णता एवं वैवाहिक गार्हस्थ जीवन में प्रवेश हेतु समुचित जीविका व्यवस्था.
02. परिवार का अभिप्राय पति-पत्नी और उनके अवयस्क बच्चों/असमर्थ आश्रितों के रूप में ग्रहण किए जाने का प्रावधान.
03. कृषक, वणिक, रक्षक, नायक इत्यादि चारों पदों में से पात्रतानुसार किसी एक पद पर परिवारप्रमुख की नियुक्ति की न्यायोचित व्यवस्था।
04. पद पर पति-पत्नी की संयुक्त नियुक्ति एवं सुयोग्य व्यक्ति की प्रमुखता एवं सामान्य व्यक्ति की सहायकता की प्रतिष्ठा.
05. क्षमतानुसार पात्रता, पात्रतानुसार कर्म, कर्मानुसार पद एवं पदानुसार सम्पदा पर स्वामित्व की न्यायोचित व्यवस्था.
06. पदनियोजन हेतु PQ, IQ, EQ, SQ एवं अन्य सहायक पात्रतापरीक्षणों की खुली सार्वजनिक प्रतियोगिता का आयोजन.
07. पात्रतापरीक्षण में स्वास्थ्य दशा, शैक्षणिक योग्यता, चारित्रिक गुणवत्ता एवं प्रशिक्षित कौशल के परीक्षण का समावेश.
08. पदनियोजन के पश्चात् पात्रता में विकास/ह्रास द्वारा पदोन्नति/पदावनति/पदच्युति की व्यवस्था.
09. कृषिकर्मी, वाणिज्यकर्मी, राज्यकर्मी, नेतृत्वकर्मी इत्यादि चारों कर्मियों हेतु समुचित आयोत्पादक संसाधनों की समुचित सुलभता.
10. उच्चपदों की पात्रता द्वारा निम्न कर्मों, पदों, सम्पदाओं के स्वामित्व की प्रशस्तता किन्तु निम्नपदों की पात्रता द्वारा उच्च कर्मों, पदों, सम्पदाओं के स्वामित्व पर न्यायोचित प्रतिबन्ध.
11. चारों क्षमताओं (4Qs) हेतु प्रशस्त पात्रतापरीक्षण द्वारा अपात्रतासिद्ध व्यक्तियों अथवा पंचदोषों से ग्रस्त एवं पंचअपराधों में लिप्त सिद्ध व्यक्तियों के किसी भी पद पर नियोजन का निषेध एवं सुधार की वचनबद्धता पर कृषिक्षेत्र में ही नियोजन की व्यवस्था.

न्याय धर्म सभा
जगजीतपुर, कनखल, हरिद्वार (उत्तराखण्ड)-249408
फोन: 09319360554
website : www.nyayadharmsabha.org
email : info@nyayadharmsabha.org nds.haridwar@gmail.com

न्यायधर्मसभा हरिद्वार : संक्षिप्त परिचय
(Nyaya Dharm Sabha : Brief Introduction)

समाज एवं राष्ट्र में न्याय के समुचित व्यवहार को स्वीकार करो!
दोष दरिद्रता दुःख और दासता से मनुष्यों का उद्धार करो!!

न्यायधर्मसभा एक सामाजिक-राजनैतिक संस्था है, जो सार्वभौमिक समाज एवं राष्ट्र में न्याय को ही धर्म के रूप में प्रतिष्ठित करने हेतु संप्रतित है। दिनांक 25 सितम्बर, 1990 को जबलपुर, मध्यप्रदेश से प्रारम्भ हुआ 'न्यायस्थापना अभियान' निरन्तर गतिमान है, लगभग एक दशक तक देश के कई नगरों में जनजागरण सभाओं को सम्बोधित करने के पश्चात् न्यायस्थापना हेतु 25 जनवरी, 1999 में न्यायधर्मसभा को एक सामाजिक संगठन के रूप में स्थापित किया गया तथा न्यायसम्बन्धी अनेक न्यायग्रन्थों का लेखन प्रारम्भ किया गया। पुनः 25 दिसम्बर, 2005 को न्यायस्थापना अभियान के अन्तर्गत 'न्यायधर्मसभा' द्वारा विद्या, जीविका, सुविधा, संरक्षण प्राप्ति के चारों न्यायशील जनाधिकारों सहित अनेक राष्ट्रीय मुद्दों पर विविध न्यायप्रस्तावों से युक्त अपना एक 'न्यायघोषणापत्र' तैयार किया गया, तथा दिनांक 1 जनवरी, 2006 को यह 'न्यायघोषणापत्र' एवं 'न्यायस्थापना अभियान : एक परिचय' नामक पुस्तकों का भी लोकार्पण किया गया तथा सभा में उपस्थित प्रिंट एवं इलेक्ट्रानिक मीडियाकर्मियों तथा अन्य गणमान्य नागरिकों के समक्ष न्यायस्थापना अभियान का विस्तृत परिचय दिया गया, जो 'न्यायसम्बोधन-1' नामक पुस्तिका के रूप में प्रकाशित किया गया। इसके पश्चात् 8 जनवरी, 2006 को इन्हीं चारों न्यायशील जनाधिकारों पर एक विशेष जनमतसंग्रह अभियान प्रारम्भ किया गया, जिसमें भारत के कई क्षेत्रों में 99% से भी अधिक संख्या में लोगों ने इसके पक्ष में अपना मत प्रस्तुत किया।

दिनांक 01 जनवरी, 2007 को पुनः एक न्यायसम्मेलन जगजीतपुर, हरिद्वार में न्यायधर्मसभा के प्रांगण में आयोजित किया गया, जिसमें बहुत से गणमान्य नागरिक एवं मीडियाकर्मी उपस्थित हुए। सभा में न्याय के व्यावहारिक स्वरूप पर प्रकाश डाला गया, जो 'न्यायसम्बोधन-2' नामक पुस्तिका में प्रकाशित किया गया। पुनः 01 जनवरी, 2011 को इन्हीं चारों न्यायशील जनाधिकारों के रूप में क्रमशः विद्यासेवा, जीविकासेवा, सुविधासेवा, संरक्षणसेवा की समुचित सुलभता हेतु सामाजिक तल पर योजनाबद्ध रूप से कार्यक्रम संचालित करने की घोषणा करी गयी। तदनुसार सन् 2011 से विद्यायोजना, उद्यमयोजना, ग्रामयोजना एवं स्वस्तियोजना का क्रियान्वयन प्रारम्भ हुआ, ताकि लोगों को समुचित विद्या, जीविका, सुविधा, संरक्षण सुलभ हो सकें। दिनांक 20 मार्च, 2011 को एक सार्वजनिक सभा आयोजित करी गई। इसमें 'न्यायशील सार्वभौमिक राष्ट्र' की स्थापना हेतु सदस्यता अभियान प्रारम्भ किया गया। इसकी वेबसाइट का रजिस्ट्रेशन कराया गया, जिसके माध्यम से यह सदस्यता अभियान निरन्तर चल रहा है। दिनांक 23 मार्च, 2012 को देश में फैले हुए भ्रष्टाचार, कालाधन, नकलीमुद्रा, टैक्सचोरी एवं अन्य मौद्रिक अपराधों की 100% समाप्ति हेतु 'आंकिक मुद्रा प्रणाली' (डिजिटल करेंसी सिस्टम) लागू करने हेतु एक पत्रकारवार्ता का आयोजन किया गया।

पुनः दिनांक 01 जनवरी, 2014 को एक विशेष सभा का आयोजन किया गया, जिसमें मीडियाकर्मी एवं अन्य गणमान्य नागरिकों की उपस्थिति में न्यायधर्मसभा द्वारा न्यायस्थापना अभियान के अन्तर्गत अपना राजनैतिक कार्यक्रम भी घोषित किया गया एवं तत्सम्बन्धी राजनैतिक घोषणापत्र का लोकार्पण भी किया गया, जिसे लागू करने के लिए 111 न्यायप्रस्ताव भी सार्वजनिक किए गए। इनमें से अधिकांश न्यायप्रस्ताव विगत कई वर्षों में लगातार केन्द्र एवं राज्य सरकारों, राजनैतिक दलों एवं अनेक महत्त्वपूर्ण व्यक्तियों/संस्थाओं को भेजे गए। इनमें से कुछ न्यायप्रस्ताव आंशिक रूप से लागू भी हुए। दिनांक 09 फरवरी, 2014 को एक 'सार्वभौमिक लोकसभा' के रूप में 'सामाजिक संसद' की स्थापना करी गयी, जिसमें समस्त सामाजिक संगठनों, समुदायों, संस्थानों, समूहों, क्षेत्रों आदि के न्यूनतम 1000 लोगों के समूह को अपना प्रतिनिधि नियुक्त करने की व्यवस्था दी गयी, तथा न्यायप्रचारयात्राओं एवं न्यायबोधगोष्ठियों का आयोजन प्रारम्भ किया गया, जिससे कि न्याय को समाज एवं राष्ट्र के वास्तविक धर्म के रूप में प्रतिष्ठित होने का गौरव प्राप्त हो सके। पुनः 24 जून 2019 को श्री गुरु जी की अध्यक्षता में आयोजित एक सार्वजनिक सभा में न्यायधर्मसभा को राजनैतिक दल के रूप में चुनावआयोग द्वारा पंजीकृत कराने का निर्णय लिया गया, ताकि न्यायस्थापना हेतु जनता के हाथों को मजबूत करने वाली 'महालोकतान्त्रिक स्वशासन प्रणाली' का न्यायप्रस्ताव-53 लागू करके शेष 110 न्यायप्रस्तावों को जनता द्वारा पारित कराया जा सके। अब केन्द्र एवं राज्यादि स्तरों पर सर्वत्र प्रस्तावित चुनावों में न्याय की सत्यात्मक अवधारणा के प्रचार-प्रसार एवं प्रतिष्ठापन हेतु अपने प्रतिनिधि खड़े करने की योजना भी घोषित करी गयी। कुल 111 न्यायप्रस्तावों से युक्त न्यायधर्मसभा के न्यायघोषणापत्र के क्रियान्वयन हेतु भारत में 2025 तक की समयावधि तथा सम्पूर्ण विश्व के एकीकरण एवं न्यायशील सार्वभौमिक राष्ट्र की स्थापना हेतु 2054 तक की समयावधि को न्याय के प्रचार-प्रसार हेतु नियोजित करने की घोषणा न्यायधर्मसभा के संस्थापक व मार्गदर्शक आदरणीय गुरुजी (श्री अरविन्द 'अंकुर' जी) द्वारा करी गयी।

न्याय धर्म सभा
जगजीतपुर, कनखल, हरिद्वार (उत्तराखण्ड)-249408
मो0: 09319360554
website : www.nyayadharmsabha.org
email : info@nyayadharmsabha.org nds.haridwar@gmail.com

धर्मो रक्षति रक्षितः

मैत्री संस्थापको यश्च विश्वशान्तिविधायकः।
सनातनाय धर्माय तस्मै नित्यं नमो नमः॥
जो सर्वत्र मित्रता की स्थापना और विश्वशान्ति का विधान करनेवाला है, उस सनातनधर्म के लिए सदैव नमस्कार है, नमस्कार है।

प्रकाशक
न्यायधर्मसभा, जगजीतपुर, कनखल, हरिद्वार

सृजनतिथि
01 जनवरी, 2001

कम्प्यूटरोग्राफी
सन्देश

मुद्रक
धर्मसंस्थापकसंघ, जगजीतपुर, कनखल, हरिद्वार

निवेदन– कृपया न्यायस्थापना अभियान सम्बन्धी अधिक जानकारी एवं अभियान में सम्मिलित होने के लिए धर्मसंस्थापकसंघ, हरिद्वार के मुख्यालय से सम्पर्क करें, मिलें, हमारी वेबसाइट देखें, ईमेल करें, पत्र लिखें अथवा फोन करें।

फोन नं. : 9319360554
वेबसाइट– www.dharmsansthapaksangh.org
ईमेल– dharmsansthapaksangh@gmail.com